पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका

अंक : 27 मार्च-अप्रैल 2010

संपादक

भारत भारद्वाज

Kku 'kkafr eSkh

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता

अंक : 27 मार्च-अप्रैल 2010

प्रकाशक :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व

© सम्बन्धित लेखकों द्वारा
पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्रा दिल्ली।

एक अंक : 20 रु.
वार्षिक सदस्यता : 120 रु.
दिल्ली से बाहर के चेक के लिए वार्षिक 145 रु. और द्वैवार्षिक 265/– मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।
चेक/डॉफ्ट कृपया क्षेत्रीय विस्तार केंद्र, म.गां.अ.हि.वि., नई दिल्ली के नाम से भेजें।

संपादकीय, बिक्री और वितरण केन्द्र
प्रकाशन विभाग,
क्षेत्रीय विस्तार केंद्र (दूरस्थ शिक्षा)
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
ई-47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्र, फेज-II, नई दिल्ली-110020
टेली-011-26387365 E-mail : Pustakvarta@indiatimes.com
टेली-011-41613871 मो.-09313034049 (संपादकीय)
E-mail : bhardwaj_bharat@yahoo.com

PUSTAK-VARTA
A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post-Manas Mandir, Gandhi Hills, Wardha-442001 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण-सज्जा : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

संपादकीय	: हिंदी की आरंभिक अग्रणी संस्थाएँ	5
मैं और पुस्तकें	: रहने दो अभी सागरो–मीना मेरे आगे / **मधुरेश**	7
उपन्यास	: दुक्खम सुक्खम / **ममता कालिया** **परम्परागत यथार्थ और लेखकीय कीमियागिरी** / पुष्पपाल सिंह	10
	: साधो यह मुर्दों का गाँव / **राकेश कुमार सिंह** **मूल कथावस्तु का अन्यथाकरण** / शंभु गुप्त	12
	: पचकौड़ी / **शरद सिंह** **'पचकौड़ी' पिकरेस्क उपन्यासों का नया उत्कर्ष** / कान्ति कुमार जैन	15
कहानी	: इच्छाएँ / **कुमार अंबुज** **रोजमर्रा की जीवन 'इच्छाएँ'** / प्रकाश त्रिपाठी	17
	: यहीं कहीं से / **शैलेय** **'बहुत बड़ी है कहानी की दुनिया'** / ज्योति किरण	18
कविता	: हवा की मोहताज क्यों रहूँ / **इन्दु जैन** **अन्तर्वृत्तियों का आन्दोलन** / रेवती रमण	21
	: पृथ्वी पर एक जगह / **शिरीष कुमार मौर्य** **मनुष्यता के पक्ष की कविताएँ** / अखिलेश कुमार दूबे	23
	: कविता का सर्वनाम / **सुनील कुमार पाठक** **एक खिच्चा कवि समकालीन कविता के खेत में** / ओम भारती	25
संस्मरण	: अतीत राग / **नंद चतुर्वेदी** **बाकी की बातें** / पल्लव	26
भाषा	: अपभ्रंश भाषा और साहित्य / **राजमणि शर्मा** **एक उपेक्षित भाषा का सन्तुलित विश्लेषण** / सुभाष सेतिया	29
पत्राकारिता	: राम नाम से प्रजातंत्रा तक / **राजेन्द्र माथुर** **राजेन्द्र माथुर : बड़े पत्राकार के पद–चाप** / प्रेमपाल शर्मा	30
संगीत	: मेरे मेहदी हसन / **अखिलेश झा** **मेरे मेहदी हसन** / राजेन्द्र उपाध्याय	32
रंगमंच	: तीसरी आंख का सच / **सत्यदेव त्रिपाठी** **पढ़ने में देखने को सम्भव करती एक किताब** / प्रकाश उदय	33

यात्रा–कृतांत	:	हिमालय का महाकुम्भ : नन्दा राजजात / **रमेश पोखरियाल 'निशंक'** **हिमालय के पड़ोसी नन्दा राजजात** / अनुप्रथा	35
नेपथ्य	:	**जानने और न जानने के बीच का खालीपन** / उदयशंकर	36
धरोहर	:	**आचार्य द्विवेदीजी तथा सरस्वती** / श्रीयुत पं. केदारनाथ जी पाठक	39
विश्व–साहित्य	:	**हेर्टा म्यूलर को साहित्य का नोबेल पुरस्कार** / सुभाष शर्मा	42
आगमन	:	**26 / 11 का झूठा सच** / अनंत विजय	45
समय जुलाहा	:	**दिल्ली में पिकासो लीला** / कुबेर दत्त	47
फिल्म–वार्ता	:	**भय्या समाज और भोजपुरी सिनेमा** / रामजी यादव	50
साहित्य कोलाहल	:	**साहित्य कोलाहल** / प्रज्ञाचक्षु	52
प्रतिध्वनि	:	पत्रा–प्रतिक्रिया	55

हिंदी की आरंभिक अग्रणी संस्थाएँ

आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास और इतिहास में जिन दो अग्रणी संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है उनमें पहली है–नागरी प्रचारणी सभा, काशी और दूसरी है हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

खड़ी बोली कविता और गद्य की अनेक विद्याओं का आरम्भ भारतेन्दु युग में हुआ लेकिन हिंदी के प्रचार–प्रसार के साथ अनुपलब्ध साहित्य और पाण्डुलिपियों को खोज निकालने का काम किया नागरी प्रचारणी सभा ने। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सभा की स्थापना से लेकर इसके आरम्भिक विकास का इतिहास अंग्रेजी में लिखा है (A short history of the Nagari Pracharini Sabha, Benares, (July 1893 to June 1915) यानी सभा के लगभग 22 वर्षों का है यह इतिहास। हमारे जानते यह इतिहास डॉ. ओमप्रकाश सिंह द्वारा संपादित आ.रामचन्द्र शुक्ल ग्रन्थावली के खण्ड आठ में मूल रूप में पहली बार प्रकाशित हुआ। अभी पिछले दिनों इस विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी पत्रिका 'हिंदी' (अक्टूबर–दिसम्बर 09) के अंक में इसे साभार उद्धृत किया गया है।

वस्तुतः सभा की स्थापना कुछ उत्साही युवा विद्याख्रथयों के हिंदी से लगाव का परिणाम थी। 1893 ई. में मुख्य रूप से बाबू श्यामसुन्दर दास, पण्डित राम नारायण मिश्र और ठाकुर शिव कुमार मिश्र के भीतर यह विचार कौंधा कि हिंदी साहित्य के स्वस्थ विकास और उन्नति के लिए और इसके नागरी चरित्रा को सुरक्षित रखने के लिए एक सामूहिक प्रयास किया जाए और इस तरह 16 जुलाई 1893 को नागरी प्रचारणी सभा, काशी की स्थापना हुई और इसके नियम कायदे बनाए गए। 15 फरवरी 1894 को स्वर्गीय बाबू राधाकृष्ण दास ने सभा की अध्यक्षता स्वीकार की और इस शिशु संस्था की प्रत्येक गतिविधि से अपने को जोड़ा। 24 मार्च को 'नागरी दास का जीवन चरित्रा' पर अपना विद्वतापूर्वक आलेख पढ़ा। सभा के आरम्भिक वर्षों में जिन लोगों का सक्रिय समर्थन मिला उनमें रायबहादुर पी. लक्ष्मीशंकर मिश्र, एम.ए., बाबू इन्द्र नारायण सिंह, एम.ए., बाबू रामदीन सिंह, बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर, पं. किशोरी लाल गोस्वामी, बाबू रामकृष्ण वर्मा, बाबू काख्रतक प्रसाद और बाबू गदाधर सिंह, बाबू देवकीनन्दन खत्राी इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास, बी.ए. जिस निष्ठा और समर्पण के साथ सचिव के रूप में सभा के साथ जुड़े उन्हें ठीक ही 'सभा की आत्मा' संज्ञा से विभूषित किया गया है।

सभा की स्थापना तो हो गई लेकिन उसके सामने एक बड़ी चुनौती थी कि किस तरह विशाल साहित्यिक खजाने को, जो लोगों के घर पर या पुस्तकालयों में पाण्डुलिपि के रूप में ओझल थे, को उपलब्ध कराया जाए। इसके लिए सभा ने भारत सरकार, बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी, एन.डब्लू.पी. (यू.पी.) सरकार और पंजाब सरकार से सम्पर्क कर अनुरोध किया कि हिंदी और संस्कृत की विलुप्त पाण्डुलिपियों को ढूँढने में मदद करें। सभा ने एक बृहत हिंदी शब्दकोश तैयार करने की भी आवश्यकता महसूस की लेकिन इसके सामने आख्रथक दिक्कतें थीं। अन्ततः दरभंगा महाराज ने 125 रु. की राशि सभा को दान में दी। सभा के सामने हिंदी को शैक्षणिक संस्था में प्रवेश दिलाने और इसे लोकप्रिय बनाने की चिन्ता थी। और इसके लिए शिक्षा विभाग के माध्यम से हिंदी के लेखकों के लिए पुरस्कार की व्यवस्था की गई साथ ही साहित्यिक गतिविधियों की सक्रियता के लिए सभा में नागरी भण्डार पुस्तकालय की स्थापना भी की गई। 1895 के आरम्भ में सभा के आग्रह पर एशियाटिक सोसाइटी ने कुछ पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध कराईं। रीतिकालीन कविता के निर्माता केशवदास के पूर्व लिखित एक ऐसा काव्य शास्त्रा मिला जिसने इस सामान्य धारणा को झुठलाया कि केशवदास ही काव्यशास्त्रा के निर्माता थे। दूसरी जो पाण्डुलिपि मिली, वह थी मुस्लिम कवि कुतुबन की 'मृगावती' जो यदि सपूर्णता में मिलती तो हिंदी रोमांटिक कविता में महत्त्वपूर्ण स्थान होता।

बाद में यह उचित समझा गया कि विभिन्न क्षेत्राों में सभा अपना प्रतिनिधि भेजे ताकि हिंदी भाषा और साहित्य के प्रति लोगों में उत्तरदायित्व का भाव जगाया जा सके। इस योजना के अन्तर्गत बाबू श्यामसुन्दर दास बी.ए., बाबू माताप्रसाद, एम.ए., बाबू काख्रतक प्रसाद, इलाहाबाद और लखनऊ गए। सभा इसके लिए भी प्रयत्नशील थी कि अदालत के काम में नागरी का प्रयोग हो। इसकी परिणति थी कि 'हिंदी क्या है' पैंपलेट की कॉपियाँ वितरित की गई। इसी समय परिदृश्य पर ग्वालियर के महाराजा आए जो अपने राज्य की कचहरियों में नागरी लिपि का प्रयोग करना चाहते थे।

सभा से त्रौमासिक नागरी प्रचारिण पत्रिका का प्रकाशन 1896 से शुरू हुआ। 5 सितम्बर 1896 को पेरिस में The

International Congress of Orientalist का सम्मेलन आयोजित था। सभा ने ठीक ही निर्णय लिया कि यह अवसर हिंदी को एक बड़ा परिप्रेक्ष्य देने का है। अतः यह सोचा गया कि इस सम्मेलन के लिए हिंदी भाषा और साहित्य के परवर्ती इतिहास पर एक परचा बाबू श्याम सुन्दरदास द्वारा तैयार करवाया जाए और कांग्रेस की भारतीय शाखा को भेजा जाए। जैसा प्रत्याशित था इस परचा से हिंदी के प्रति लोगों में रुचि जगी और खुद डॉ. लेवी, जो कांग्रेस के सचिव थे, हिंदी के सच्चे समर्थक और दोस्त बने। यहाँ इस बात का उल्लेख किया जाना चाहिए कि सभा की गतिविधियों से पं. मदन मोहन मालवीय बहुत गहराई से जुड़े हुए थे।

इसी बीच एक सुखद संयोग यह हुआ कि स्वर्गीय बाबू गंगाधर सिन्हा ने अपने आर्य भाषा पुस्तकालय की सारी सम्पत्ति एक वसीयत के अनुसार नागरी भण्डारी पुस्तकालय को दान में दे दी। सभा के प्रयास से ही पाठ्य पुस्तक समिति में बाबू इन्द्रनारायण सिन्हा, एम.ए. का सदस्य के रूप में चुनाव किया गया जो सभा के लिए एक बड़ी उपलिब्ध थी। 6 सितम्बर 1898 में सभा का पंजीकरण हुआ तब तक इसके सदस्यों की संख्या 247 हो गई थी। सभा का प्रयास था कि हिंदी में वैज्ञानिक शब्दावली का निर्माण हो और विभिन्न विषयों पर लोग लिखें, इसके लिए एक उपसमिति बनाई गई।

इस बीच न केवल सभा को वाख्रषक सरकारी अनुदान मिलने लगा था बल्कि सभा ने बड़ी संख्या में महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ भी उपलब्ध कर ली थीं। सरकारी संरक्षण में तुलसीदास के रामायण के पाठ को त्रुटिहीन प्रकाशित करने की योजना बहुत दिनों से लम्बित थी। इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद ने इसे प्रकाशित करने की जब स्वीकृति दी, सभा की साहित्यिक गतिविधियों में सक्रियता आई। यही नहीं, प्रेस के मालिक बाबू चिन्तामणि घोष ने सभा से अनुरोध किया कि उनके लिए उच्च कोटि का एक हिंदी मासिक का संपादन करें जिसे वे सहर्ष प्रकाशित करेंगे। इस तरह सभा ने 5 व्यक्तियों की एक समिति बनाई—बाबू श्यामसुन्दर दास, बी. ए., बाबू राधाकृष्ण दास, पण्डित किशोरी लाल गोस्वामी, बाबू काख्रतक प्रसाद और बाबू जगन्नाथ दास जिनके संपादन में 1900 ई. में सरस्वती का प्रकाशन इलाहाबाद में आरम्भ हुआ। यहाँ एक दिलचस्प प्रसंग का उल्लेख जरूरी लगता है। 1903 में जब पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी सरस्वती के संपादक हुए, अपने संपादकीय में उन्होंने सभा द्वारा तब तक पाण्डुलिपियों की खोज के प्रति असन्तोष व्यक्त करते हुए कठोर आलोचना की। जिसका परिणाम यह हुआ कि सभा ने सरस्वती से अपना अनुमोदन वापिस ले लिया। पत्रिका के आगामी अंक में द्विवेदी जी ने 'अनुमोदन का अन्त' शीर्षक से माख्रमक संपादकीय लिखा, जिसमें ब्रजभाषा में लिखी उनकी कविता भी उद्धृत थी।

सभा की योजना एक बृहत हिंदी व्याकरण तैयार करने की थी। लेकिन 1903 में डॉ. ग्रियर्सन ने सभा को तब तक इन्तजार करने के लिए कहा जब तक भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण की रिपोर्ट न आ जाए। कालांतर में सभा की ओर से हिंदी शब्द सागर और हिंदी व्याकरण, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी भाषा का इतिहास के अतिरिक्त, सूरसागर, तुलसी ग्रन्थावली, जायसी ग्रन्थावली के प्रकाशन हुए। इस तरह सभा ने हिंदी के विकास और इतिहास में अमूल्य योगदान दिया।

हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की स्थापना नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के प्रस्ताव के अनुसार 1910 ई. में हुई। सभा की कार्यकारिणी परिषद के सामने बाबू श्यामसुन्दर दास, बी.ए. ने एक निश्चयात्मक प्रस्ताव रखा कि काशी में तीन दिवसीय (10—12 अक्टूबर 1910) पहला हिंदी साहित्य सम्मेलन सभा के तत्वावधान में आयोजित किया जाए और यह ऐतिहासिक सम्मेलन महामना पं. मदन मोहन मालीवय की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन का ऐतिहासिक महत्त्व इस दृष्टि से है कि इस सम्मेलन में विद्या और मातृ—भाषा के महत्त्व पर पं. सुखदेव बिहारी मिश्र ने अपने आलेख का पाठ किया। पं. अयोध्या सिंह उपाध्याय ने 'धर्म्मवीर' शीर्षक अपनी लम्बी कविता पढ़ी। पं. श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली की कविता पर लेख पढ़ा। इस सम्मेलन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी हिंदी साहित्य का इतिहास का मिश्र बन्धुओं द्वारा लिखित प्रारूप, जो शुक्ल जी के इतिहास की पूर्व पीठिका है।

इस वर्ष सम्मेलन की शताब्दी मनाई जा रही है लेकिन हिंदी समाज में इसको लेकर कोई सुगबुगाहट तक नहीं। यह सचमुच दुख की बात है कि आजादी के बाद क्रमशः इन दोनों अग्रणी संस्थाओं का स्तर ही नहीं गिरा बल्कि ये राजनीति की भी शिकार हुईं। यही कारण है कि बाद में इन संस्थाओं ने कोई बड़ा काम नहीं किया। यह भी चिन्ता की बात है कि पुस्तकों और पत्रिकाओं के संरक्षण पर भी ठीक से ध्यान नहीं दिया जाता है। आज ये दोनों संस्थाएँ मृतप्राय हैं जबकि इन संस्थानों को प्रतिवर्ष भारत सरकार से वित्तीय अनुदान के रूप में एक बड़ी राशि मिलती है। हिंदी की कालजयी कृतियां चाहे वह जायसी का पद्मावत हो या फिर शुक्ल जी का हिंदी साहित्य का इतिहास के नए संस्करण इतने भ्रष्ट रूप से छोटे अक्षरों में सभा ने छापा है कि पढ़ने में कठिनाई होती है।

मैं सम्पूर्ण हिंदी संसार का ध्यान इन दोनों संस्थाओं के □ास की ओर दिलाना चाहता हूँ ताकि पूर्वज साहित्यकारों के खून पसीने से बनी ये संस्थाएँ पाठकों, लेखकों, शोधाख्रथयों और अनुसंधानकर्त्ताओं के लिए भविष्य में उपयोगी साबित हो सकें।

इस बीच हिंदी के वरिष्ठ कथाकार और 'कथा' के संपादक मार्कण्डेय हमारे बीच नहीं रहे उन्हें हमारी अश्रुपूरित हार्दिक श्रद्धांजलि।

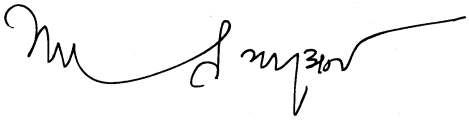

मैं और मुझमें

रहने दो अभी सागरो–मीना मेरे आगे

मधुरेश

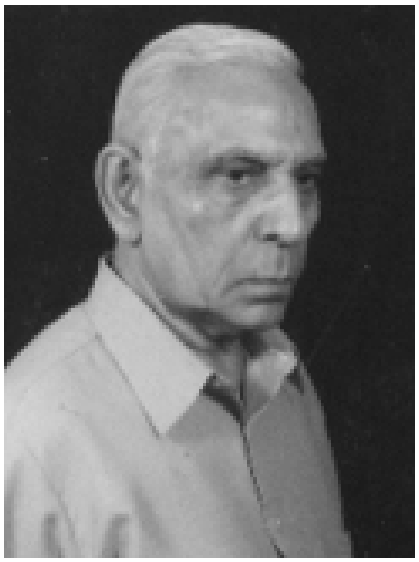

मधुरेश

फरवरी सन् 1945 में बहन के विवाह और फिर कुछ महीनों बाद गौना हो जाने से परिवार में मैं अकेला रह गया था। ऊपर की मंजिल में तीन दरों वाला एक कमरा था, सम्मिलित परिवार में जिसे पिता ने अपनी शादी के बाद शुरू की नौकरी के दौरान बनवाया था। आँवले से तबादले के बाद, उस कमरे के आगे का बरामदा बहन के विवाह से कुछ पहले बना था। माँ अधिकतर नीचे के हिस्से में रहती थीं और ऊपर का वह कमरा एक तरह से मेरा अपना कमरा था–ए रूम ऑफ वन्स ओन!...घरेलू जरूरतों के हिसाब से जब–तब उस कमरे में अलमारियाँ और टांड़ बनवाए गए थे। लेकिन आगे की दीवार में किनारे के दरवाजों के साथ एक–एक छोटी खिड़की की याद मुझे आज भी है। उनमें से एक खिड़की में माँ के डाले अचारों के इमर्तबान रखे रहते थे और दूसरी ओर की खिड़की में पिता की चन्द किताबें। उन्हीं किताबों में 'रामचरित मानस' की जिल्द मढ़ी वह प्रति भी थी जो मूलतः नन्ददुलारे वाजपेयी के संपादन में 'कल्याण' के विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुई थी। उसे मैंने अपने बचपन में जब–तब पिता द्वारा बहन को पढ़ाते देखा था–पहले आँवला में और फिर बरेली में। उसी के साथ जिन कुछ और किताबों की याद मुझे है उनमें 'सुखसागर', 'प्रेमसागर' के अतिरिक्त अँग्रेजी में 'भगवत् गीता' की एनी बेसेंट द्वारा लिखित गुटका साइज की, हरे कवर वाली एक टीका भी थी। लेखक का नाम अब याद नहीं है। इन्हीं किताबों में 'महाशय भड़ामसिंह' नामक हास्य की एक किताब भी थी, जिसके उपन्यास होने की जानकारी बाद की है। हो सकता है कि ऐसी ही कुछ और किताबें भी रही हों।

परिवार सनातन धर्म हिंदू संस्कारों वाला था, जिसमें राम–कृष्ण की कथाओं के साथ धाख्रमक–पौराणिक आख्यानों की जानकारी बच्चे की घुट्टी में शामिल होती थी। गख्रमयों की लम्बी छुट्टियों और वैसी ही लम्बी दोपहरों में खूब रमकर 'प्रेम सागर' में कृष्ण–कथा के प्रसंग पढ़ने की याद ही पढ़ी जाने वाली किसी चीज से सम्बन्धित पहली याद है, जो आज भी स्मृति में सुरक्षित है। इसी के आस–पास दशहरे पर मुहल्ले में होने वाली रामलीला और उसके बाद मण्डली द्वारा खेले जाने वाले नाटकों के माध्यम से पं. राधेश्याम कथावाचक से परिचय हुआ। रामलीला में सबसे आकर्षक प्रसंग धनुष–यज्ञ, राम–वनवास और अंगद–रावण संवाद होते थे। इस अवसर पर, बरेली में होने पर, पण्डित जी प्रायः ही हारमोनियम लेकर स्टेज पर बैठते थे। उनकी 'रामायण' के संवाद ही प्रायः इन लीलाओं में बोले जाते थे। उर्दू के मेल से बनी उनकी भाषा उस उम्र में ही दिमाग पर ऐसी छप गई कि 'राधेश्याम रामायण' के लिए मैं बौराया घूमता था। पिता जी का जब तक वश चला, उन्होंने उसे घर में नहीं आने दिया। उनका जोर 'रामचरित मानस' पर होता था जिसे कायदे से मैं कभी पूरा पढ़ ही नहीं सका–आज भी स्थिति यही है।

बाद में बाजार से निकलते हुए एक दिन पटरी पर रखी किताबों में मैंने उस रामायण के अलग–अलग अजिल्द काण्ड भी देखे। हर काण्ड पर राधेश्याम कथावाचक का युवावस्था वाला चित्रा था और एक काण्ड की कीमत पाँच आना थी। कुल मिलाकर पच्चीस काण्ड थे। मेरे दिमाग में आया कि पैसे जोड़कर एक–एक काण्ड खरीदकर मैं रामायण पूरी कर लूँगा। पाँच आने हो जाने पर मेरी पहली पसन्द 'धनुष–यज्ञ' थी। लेकिन जब मैं उस पटरी वाली दुकान पर पहुँचा तो संयोग से राधेश्याम कथावाचक की कोई किताब नहीं थी। दुकानदार ने दो–तीन दिन बाद मँगा देने का आश्वासन दिया। लेकिन जेब में पैसे थे, पटरी पर किताबें बिखरी थीं। मैं रूकने या इन्तजार करने को तैयार नहीं था। किताब के प्रति यह अधैर्य और पैशन आज भी बरकरार है। मेरी नजर गद्य में लिखी जिस किताब पर टिकी वह 'नल–दमयन्ती' थी। सफेद कवर पर अंकित नीले आसमान पर उड़ते हंस की चोंच में सफेद रंग का कोई कपड़ा था जो शायद दम्यन्ती का दुकूल–दुपट्टा रहा होगा। उस किताब का मूल्य भी पाँच आना था। 'धनुष यज्ञ' की बात आगे के लिए टालकर मैंने किताब खरीद ली। मेरे द्वारा खरीदी गई वही पहली किताब थी। तब मैं छठे या सातवें में रहा होऊँगा। उसके बाद लाखों रुपये की किताबें खरीदीं, वैसी उत्तेजना और थरथराहट कभी नहीं हुई। घर लाकर मैंने उसे पिताजी की किताबों वाली खिड़की में रखकर देर तक देखा था कि वहाँ, उन किताबों के बीच, वह कैसी लगती है। उसके बाद मैंने महीनों उसे पढ़ा, याद नहीं कितनी बार।

जिन दो किताबों ने पढ़ने का चस्का लगाया उनमें रवीन्द्रनाथ की 'नौकाडूबी' और उत्तमचन्द की 'व्हेन बोस बाज जियाउद्दीन' की याद आज भी है। 'नौकाडूबी' बेटाजी ने कमला चाची को पढ़ने को दी थी। चाची ने उसे पढ़कर तिदरी के आतिशदान पर रख दिया था, शायद बेटाजी को लौटाने के लिए। मैंने उसे देखा और उठा लाया। जब उसे पढ़ना शुरू किया तो जैसे एक नई दुनिया ही मेरे आगे खुलती गई। बहुत सीधी–सादी रोचक–सी कहानी, बंगाल के प्रकृति–दृश्यों के बीच और स्मृति में टिक जाने वाले पात्रा। उसे पढ़ना शुरू करके फिर बीच में उसे छोड़ा नहीं जा सका। करीब तीन सौ पृष्ठों का वह उपन्यास मैंने दो दिन में पढ़ डाला। इस बीच बगिया वाले सामने के घर में जाने पर चाची ने किताब के बारे में पूछा भी। मुझे डर था कि उसके मेरे पास होने की बात यदि उन्हें मालूम हो गई, वह किताब अधूरी पढ़ी होने पर भी उन्हें लौटानी होगी। अतः उनके पूछने पर मैं साफ मुकर गया। मेरी 'नहीं' के बाद उन्होंने फिर कोई विशेष छान–बीन भी नहीं की क्योंकि उन्हें शायद इसका अनुमान भी नहीं था कि किताब में मेरी दिलचस्पी हो सकती है। 'नौकाडूबी' ही वस्तुतः वह पुस्तक थी जिसने एक ओर यदि लगकर पढ़ने की गहरी नींव मेरे अन्दर डाली वहीं किताबों के प्रति एक दुखनवार सम्मोहन भी बढ़ाया, जिसके बीज शायद पहले ही मेरे मन की धरती में छितरे पड़े थे। पढ़ लेने के बाद किताब की चिन्ता न बेटाजी को थी, न ही चाची को।

इसी क्रम में दूसरी किताब अँग्रेजी में उत्तमचन्द की 'व्हेन बोस वाज जियाउद्दीन' थी। बाद में जब सिंह बुक डिपो से बाकायदा इकन्नी रोज पर किताबें लेकर पढ़ना शुरू किया तो कुशवाहा कान्त की किताबों में 'विद्रोही सुभाष' को भी मैंने रुचिपूर्वक पढ़ा था।

मेरा अनुभव है कि किताबों को पढ़ने का चस्का लगना ही मुख्य बात है, उनके लिए राह तो फिर अपने आप खुलती जाती है। इस दौर में मेरे लिए किताबों के दो मुख्य स्रोत थे–सेवा समिति का पुस्तकालय और सिंह बुक डिपो। चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावन लाल वर्मा, भगवती चरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी आदि का पूरा साहित्य मैंने वहीं मँगवाकर पढ़ा। कुशवाहा 'कान्त', प्यारे लाल 'आवारा' और बनारस में छपी ऐसी ही किताबें भी वह रखता था क्योंकि अधिकतर पाठक इन्हीं की माँग करते थे। दुर्गा प्रसाद खत्री का 'रक्त मण्डल' मैंने यहीं से पढ़ा। विदेशी उपन्यासों के अनुवाद भी मैंने उससे मँगवाए। ड्यूमा के अधिकतर उपन्यास यहीं से पढ़ने की याद आज भी है।

किताबों की दुनिया में मेरी स्थिति वीराने में भटकते एक बच्चे जैसी थी, जिसे अपनी राह स्वयं ढूँढ़नी थी। यह बिना नक्शे और योजना वाली यात्राा थी जिसमें भटकने का अपना सुख था। चीजों को समझने और पहचानने का सलीका बाद में आया, अगर आया तो। चतुरसेन शास्त्राी के 'वयं रक्षाम्', 'वैशाली की नगर वधू', 'सोमनाथ' आदि के पहले संस्करण मुझे यहीं से मिले जिनमें लेखक की लम्बी भूमिकाएँ थीं। बाद के संस्करणों में, पता नहीं क्यों उन्हें निकाल दिया गया। इन उपन्यासों और लेखक की रचना–दृष्टि को समझने के लिए वे आज भी उपयोगी थीं। 'सोमनाथ' के साथ भी शुरू के संस्करण में एक भूमिका की याद मुझे है। देश–विभाजन से कुछ पहले लाहौर में ताँगे से गुजरते हुए, दंगों का सूत्रा पकड़ते हुए शास्त्राी जी 'सोमनाथ' तक आए थे।

सन् '53 में हाईस्कूल करने के बाद किताबों की इस दुनिया में भी बदलाव आया। स्टूडेंट फेडरेशन के साथियों और फिर अन्ततः अपने अँग्रेजी के अध्यापक और कामरेड रशाद अब्दुल वाजिद के सम्पर्क में आकर पुस्तकें खरीदने और पढ़ने का क्रम स्थायी बन गया। इण्टर कॉमर्स में फेल होकर फिर मैंने इण्टर आर्ट्स में दाखिला लिया। सोवियत और चीनी साहित्य की पत्रिकाओं और साहित्य के क्रमशः व्यापक होते मेरे क्षितिज का दौर यही है। कॉमर्स में पढ़ते हुए भी मैं सुबह उठकर साहित्य की किताबें ही पढ़ता रहता था। पिताजी ने सुबह चार बजे उठाकर पढ़ने बैठने की आदत डाली थी। मैं उठता था और लालटेन जलाकर पढ़ने भी बैठ जाता था, लेकिन वह पढ़ी जाने वाली किताब कोई उपन्यास या पत्रिका होती थी। एक बार पिताजी ने मुझे 'कहानी' का सन् 1955 में प्रकाशित वृहद विशेषांक पढ़ते देख लिया था और वे खूब नाराज हुए थे।

इण्टर आर्ट्स में दाखिला लेने का एक लाभ मनचाही पुस्तक को कोर्स में लगी बताकर खरीद लेने की छूट थी। प्रेमचन्द का 'सेवासदन' मैंने ऐसे ही खरीदा था। 'कहानी', 'कल्पना', 'ज्ञानोदय' के साथ ही 'लता', 'बिजली', 'चिंगारी' आदि पत्रिकाओं के सम्पर्क में आने का दौर भी यही था। 'बिजली' और 'चिंगारी' कुशवाहा कान्त के भाई जयन्त कुशवाहा बनारस से निकालते थे जिनमें आमतौर पर हर माह एक उपन्यास छपता था। इलाहाबाद से प्रकाशित 'लता' की भी यही स्थिति थी। बाद में 'कहानी' की ही सहयोगी पत्रिका 'उपन्यास' निकली और मेरे बी.ए. में होने पर 'हंस' का अर्द्धवार्षिक संकलन तो आया ही, और भी कई महत्त्वपूर्ण चयन आए। 'आलोचना' तब पुस्तक–भवन पर मिल जाती थी। सन् '54 में धर्मवीर भारती और उनके मण्डल के संपादन में प्रकाशित उसका उपन्यास अंक मैंने और रशाद साहब ने वहीं से खरीदा था। आज भी दुर्लभ सामग्री की कोटि में वह मेरे पास है।

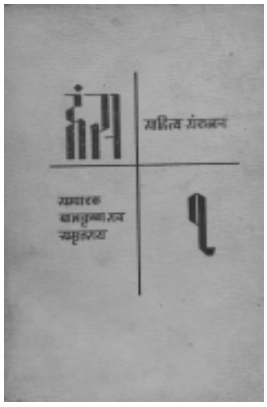

इण्टर में मेरे आते ही पिताजी सेवानिवृत्त हो चुके थे। फर्स्ट ईयर में आते ही मैंने पहली ट्यूशन की। पहले महीने मिले दस रुपये, सन् '53 में, मेरे सपनों की ऊँची छलांग थी। आज भी याद है कि उन रुपयों से मैंने यशपाल की 'दादा–कामरेड' और 'मार्क्सवाद' खरीदी थी जो तब डिमाई आकार में लाल रंग के कवर

में तीन–तीन रुपये की थी। हिंदी प्रचारक पब्लिकेशंस, वाराणसी से तब 'पवित्रा पापी', 'स्वदेश और साहित्य', 'कला क्या है?' आदि किताबें सिर्फ साढ़े पन्द्रह आने में निकली थीं। सुधाकर पाण्डेय की 'साहित्य और साहित्यकार' जैसी बड़ी और मोटी, पर्याप्त आकर्षक रूपाकार में, सिर्फ सवा रुपये में छपी थी। इन किताबों को खरीदने का एक अपना नशा था। कॉलेज की पढ़ाई के दौरान मेरे पास सबसे बड़ी राशि की दो ट्यूशनें तीस रुपये की थीं। जब मैंने सिगरेट पीनी शुरू की, मेरा सिगरेट और किताबों का खर्च इससे निकल आता था।

बिहारीपुर में द्वारिका सिंह और श्रीराम अग्रवाल की दुकानें पास–पास थीं। द्वारिका सिंह को अँग्रेजी नहीं आती थी। उनका लड़का शम्भू सिंह दसवीं तक मेरे साथ पढ़ा था। कभी उन्होंने बरेली कॉलेज के गेट पर चादर पर किताबें फैलाकर अपना काम शुरू किया था। बाद में बरेली कॉलेज में पुस्तकालय में शहर के जो दो–तीन लोग बड़े सप्लायर थे, द्वारिका सिंह भी उनमें से एक थे। दिल्ली और कानपुर से उनकी अँग्रेजी किताबों का ऑर्डर और फिर किताबें आने पर इनवॉयस से उनका मिलान आमतौर पर मैं ही करता था। इसका प्रत्यक्ष लाभ भी मुझे मिलता था। सप्लाई के लिए आई किताबों में से जब–तब अपनी जरूरत या पसन्द की किताब मैं रोक लेता था। द्वारिका सिंह उसके न मिलने की बात कहकर अगले ऑर्डर में मँगा देने का आश्वासन दे देते थे। द्वारिका सिंह की दुकान पर पुरानी किताबें भी मिलती थीं। तब तक नोट्स और कुंजी का दौर इतने व्यापक स्तर पर शुरू नहीं हुआ था। लोग मूल और अच्छी सहायक पुस्तकों से ही तैयारी करते थे। मैं बीच–बीच में दोपहर में जाकर उनकी दुकान खकोड़ता था जब भीड़ नहीं होती थी। मुझे दिखाए बिना द्वारिका सिंह खरीदी गई पुरानी किताबों को बेचते नहीं थे। एम.ए. प्रीवियस की परीक्षा के बाद श्याम स्वरूप मिश्रा के साथ लखनऊ–कानपुर जाने पर पुस्तकों की एक बड़ी खेप, युनिवर्सल बुक हाउस, कानपुर से हम लोगों ने द्वारिका सिंह की मार्फत ही वी.पी.पी. से भिजवाई थी। अपनी शादी में मिले रुपयों से मैंने 'आलोचना' के सारे पुराने अंक द्वारिका सिंह से ही मँगवाए थे। तब पास्तरनाक का 'डॉ. जिवागो' चर्चा में था। उसके साथ पास्तरनाक की आत्मकथा 'सेफ कन्डक्ट' के पेपरबैक संस्करण द्वारिका सिंह ने ही मंगवाकर दिए थे। अंग्रेजी आलोचना की बहुत–सी दुर्लभ और अप्राप्य किताबों के लिए द्वारिका सिंह हमारे एक बड़े स्रोत थे।

स्टूडेंट–स्टोर के श्रीराम अग्रवाल एक समृद्ध वैश्य परिवार से थे। रामविलास शर्मा और रांगेय राघव की आगरा से प्रकाशित अनेक पुस्तकें मैंने उन्हीं से मँगवाईं। उधार की सुविधा भी वे देते थे। रामविलास शर्मा की 'शेक्सपीरियन ट्रेजेडी' और 'नाईटीन्थ सेंचुरी इंग्लिश पोयट्री' के अतिरिक्त रांगेय राघव की 'पांचाली' और 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' मैंने उन्हीं के मार्फत मँगवाई थी। बहुत साफ–सुथरी हालत में, पुरानी किताबों में, प्रेमशंकर की 'प्रसाद का काव्य' भी मुझे वहीं मिली थी।

और दूसरी चीजों की तरह किताबों का भी अपना जीवन होता है–खासतौर से उस व्यक्ति के प्रसंग में जिससे वे जुड़ी होती हैं। आज बहुत–सी किताबें मेरे पास पचास वर्ष पहले की खरीदी हुई हैं। प्रायः ही उन्हें दिखाकर अपने बच्चों के बच्चों को बताता हूँ कि वे उनके माँ–बाप के जन्म से भी पहले की हैं। अनेक किताबों को खोकर मैंने दोबारा खरीदा और जतन से संजोया है। मेरे लिखने–पढ़ने में वे किसी सर्जन के औजारों की तरह काम आई हैं, जिनके अभाव में छोटे–से–छोटा कोई ऑपरेशन भी असम्भव होता है। दूसरे ही नहीं पूछते, अब कभी–कभी मेरे मन में भी यह सवाल शिद्दत से सर उठाता दिखाई देता है कि आखिर मेरे बाद इनका क्या होगा? मुझसे बड़े, पेशे से इंजीनियर, मेरे चचेरे भाई मिलने पर प्रायः पूछते हैं–इन किताबों का आखिर मैं क्या करूँगा? उन्हें हमेशा मैंने एक जवाब दिया है–मरने के बाद आदमी बहुत–सी चीजें छोड़ जाता है, यह दूसरों के सोचने की बात है कि वे उन्हें कैसे रखते–बरतते हैं। बहरहाल, मुझे जो करना था, मैंने लगभग कर लिया है। जब कभी रात में नींद उचट जाती है, यह भी सोचने लगता हूँ कि इनमें से वे चन्द किताबें कौन–सी होंगी जिन्हें मैं आखिर तक बचाकर रखना चाहूँगा या अवसर मिलने पर एक बार फिर उन्हें पढ़ना चाहूँगा। ढूँढ–खकोड़कर ऐसी कुछ किताबें निकालकर बाहर रखी भी हैं। लेकिन दूसरे काम के दबाव में उन्हें पढ़ने का मौका कभी नहीं मिला।

जब–तब मित्रा बताते हैं कि किताबों के बढ़ते बोझ को कम करने के लिए बहुत–सी किताबें किसी पुस्तकालय को दे दी हैं। इन मित्रों में रमेश कुंतल मेघ और मैनेजर पाण्डेय भी हैं। किताबों के प्रति यह मेरा अताखकक मोह भी हो सकता है, इस स्थिति के लिए मैं अपने को कभी तैयार नहीं कर पाया। सार्वजनिक और कॉलेज पुस्तकालयों की स्थिति जगजाहिर है। किताब के प्रति एक व्यापक उदासीनता जो पिछले सालों में बढ़ी है, उसने इन संस्थाओं का भविष्य और शंकास्पद बनाया है। पुस्तकालयों के प्रति मेरे अपने पूर्वाग्रह हो सकते हैं, मैंने कभी अपने को पुस्तकालय से जोड़कर नहीं देखा। मैंने जो भी पढ़ा है, प्रायः अपना होने पर ही पढ़ा है। मंगनई की किताब पढ़ने में मुझे आज भी दिक्कत होती है। अनेक लेखकों–विचारकों के प्रसंग में पढ़ा है, कि वे बाबा–नाना या फिर ऐसे ही किसी अन्य सम्बन्धी की किताबें पढ़कर ही लेखक बन गए। परिवार में फिलहाल ऐसी कोई सम्भावना न के बराबर है। लेकिन फिर भी किताबें से बिछुड़ने की कल्पना सिहरन पैदा करती है। सूर्यास्त के समय, सागर–तट पर खड़े ऊँची उठती लहरों को देखने का अपना सुख है। बहुत–सी शंख–सीपियाँ उन लहरों में बहकर किनारे तक आ जाती हैं। बचपन में ऐसी बहुत–सी चीजों को समेटने–सहेजने का आकर्षण होता है। समय चीजों के प्रति इस आकर्षण को स्वयं कम करता जाता है। लेकिन वह सम्मोहन–पैशन ही क्या जो धुल–पुँछ कर एकदम साफ हो जाए। आज भी किसी अच्छी नई किताब के लिए उसी दुखनवार ललक का अनुभव करता हूँ जो कभी शुरू के दिनों में किया था। किताबों के प्रति न छीजने वाला यह पैशन ही वस्तुतः मेरे लिए जिन्दा होने और बने रहने की पहचान है।

372, छोटी बमनपुरी, बरेली (उ.प्र.)–243003, फोन–0581–2554670

परम्परागत यथार्थ और लेखकीय कीमियागिरी

पुष्पपाल सिंह

ममता कालिया ने अपने नए उपन्यास 'दुक्खम सुक्खम' में तीन लोक से न्यारी कही जाने वाली मथुरा नगरी और उसके अतीत हुए समाज का चित्राण ब्रज बोली की पूरी मिठास भरकर जिस रूप में किया है, वह न केवल बीसवीं शती के प्रथमार्द्ध का मथुरा–वृन्दावन का समाज है अपितु उसके माध्यम से पूरे उत्तर भारत का कस्बाई जीवन अपने चटख रंगों में मूर्त होता है। मथुरा शहर यद्यपि जनपद का मुख्यालय पहले से ही रहा है किन्तु उसका यह कस्बाई चरित्रा तत्कालीन लगभग सभी शहरों की प्रतीति देता है, सभी शहर अपने ग्रामीण और कस्बाई संस्कारों को उसी प्रकार सुरक्षित रखे हुए थे जिस रूप में प्रस्तुत उपन्यास में आए हैं। सत्तर के पेटे में पहुँची ममता कालिया का यह औपन्यासिक वृत्तांत इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हो उठता है कि स्मृतिधर्मा ये विवरण नई पीढ़ी के लिए बिलकुल अजाने हैं, उनकी पीढ़ी के साथ ही यह अनुभव–सम्पदा शेष हो जाएगी, इसलिए उससे परिचित कराना नई पीढ़ी को सौंपी गई एक बहुमूल्य रिक्थ है।

उपन्यास में तीन पीढ़ियाँ हैं– लाला नत्थीमल और उनकी पत्नी (दादा–दादी) की पीढ़ी, जो वर्तमान की पीढ़ी कवि के माता–पिता और इन्दु के सास–ससुर हैं और इन्दु कवि की बेटियों– मनीषा और प्रतिभा के रूप में तीसरी पीढ़ी है। कथा प्रतिभा के माध्यम से पुरातन से चलकर वैश्वीकरण की स्थितियों तक आती है और इस रूप में बीसवीं सदी के प्रायः मध्य से चलकर इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक तक के समय को अपने कथा वृत्त में घेरती है। ममता कालिया के पास कथा कहने का जो हुनर है, उसने कवि और इन्दु के वर्तमान को पुरातन और आगत भविष्यत् को कुशलता से सग्रंथित रखा है। कथा के इस फ्रेम में वे जिन भी समस्याओं को उठाती हैं, उनका सम्यक् चित्राण बिना सचेत और मुखर (वोकल) हुए सहज रूप में करती हैं। उपन्यास का प्रारम्भ ही एक प्रकार से उस स्त्राी–चेतना से होता है जिसमें उन स्थितियों की विशेषता के लिए अवसर निकाले गए हैं जिनमें हमारे समाज में कन्या–जन्म के साथ ही उसे और उसकी जन्मदात्राी माँ को सास के ताने–तिसने और अवांछित व्यवहार मिलते हैं, मानो उसने घोर अपराध या पाप कर डाला है। बेटी–जन्म की इन स्थितियों को उद्घाटित करता उपन्यास का प्रारम्भ उद्धरणीय हैं। जिस दिन वह पैदा हुई, घर में कोई उत्सव नहीं मना, लड्डू नहीं बँटे, बधावा नहीं बजा उल्टे घर की मन्हूसियत ही बढ़ी। दादी ने चूल्हा तक नहीं जलाया। लालटेन की रोशनी में सिर पर हाथ रखे वे देर तक तख्त पर बैठी रहीं।' बेटे की बेटी के लिए उनके मन में अस्वीकार का भाव था। बहू के गर्भ–धारण करते ही सासु–वर्ग में जिस रूप में लड़के के लिए कामना जाग उठती है, जिस रूप में वे बहू में गर्भावस्था के वे ही लक्षण आरोपित करने लगती हैं–बहू की नाभि की रोम–रेखा का सीधी ढलान उतरना, मीठा खाने को जी करना। पुत्राी को जन्म देने पर बहू का जीवन 'विकटतर होते चले जाना', ताने–तिसनों की सब ओर से बौछार होना, आदि स्थितियों का चित्राण प्रातिनिधिक रूप में हुआ है। इसी प्रकार स्त्राी–शिक्षा के पक्ष में और अनमेल विवाह के विरोध में उपन्यास अपनी आवाज उठाता है। स्त्राी–विमर्श के अनेक अवसर लेखिका ने कथा में निकाल लिए हैं। गांधी–वध के सन्दर्भ में यह बात उठाई गई है कि स्त्रियों को विश्वास था कि रामराज्य ही नहीं 'सीता राज्य आ जाएगा। औरत को आदमी की धौंस नहीं सहनी पड़ेगी।' किन्तु गांधी की हत्या से इस नारी– समानता के स्वप्न की भी हत्या हो जाती है। विद्यावती की कसम यह है कि यदि ''समाज को तराजू मान लो और आदमी को बटखरा। ऐसा कैसे हो

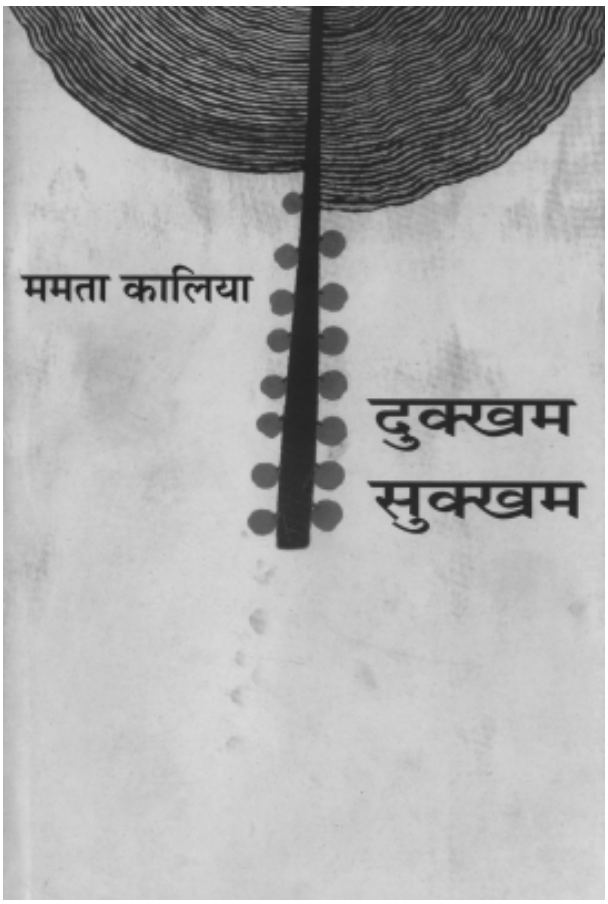

रहा है कि आदमी तो तीन छटांक का भी सवा सेर और औरत सवाया होकर भी पौनी। बच्चों का पासंग बनाओ तब भी तराजू सतर नहीं होती। औरत की तमाम उम्र ऐसे ही कट जाती है—कभी दुक्खम, कभी सुक्खम। कहने की बात है कि मायके में सुख मिले, सासरे में दुख। माँ भी कम बैरी नहीं होती। बच्चों में दुभाँत करना बाप का नहीं, माँ का काम दिखता है। बेटों को प्यार, बेटियों को दुत्कार। बेटे सारी जमा—पूँजी, जमीन—जायदाद ले जाएँ तब भी प्यारे। बेटियाँ अचार की फाँक पर पलें, तब भी भारी।'' यह कथन न केवल उपन्यास के शीर्षक को स्पष्ट करता है अपितु भारतीय समाज के कटु सत्य को भी उघाड़ देता है। कथा में अनुस्यूत रानी फूलमती की कहानी भी निष्कर्ष में स्त्री के प्रति हो रहे सामाजिक अन्याय को रेखांकित करती है।

'दुक्खम सुक्खम' की एक बहुत बड़ी उपलब्धि यह है कि शिक्षा के बढ़ते प्रसार और नगरीकरण की तीव्र प्रक्रिया में जनसंख्या के एक बड़े भाग को नगरों और महानगरों में धकेल कर हमारी सामाजिक संरचना और संयुक्त परिवार प्रणाली को जिस रूप में विश्रृंखलित किया है, उसका समाजशास्त्रीय अध्ययन कवि और इन्दु के माध्यम से किया गया है। जिस रूप में कवि धीरे—धीरे अपने 'मथुरा वारे' परिवार से कटकर पहले दिल्ली और फिर पुणे में अपनी एकल परिवार व्यवस्था में प्रवेश करता है, वह घर—घर की कहानी है। परिवारों का यह रूप पिछले 60—65 वर्षों में इसी रूप में अस्तित्व में आया है। सम्बन्धों के दरकने—टूटने की भी यही प्रक्रिया है जो उपन्यास में चित्रित हुई है। कवि से अपने ही बच्चों के पालन—पोषण के लिए 'खुराकी' (रुपये) माँगना, विधवा बहन के घर में आने पर भाभियों की प्रतिक्रियाएँ, भाभियों के कारण ही माँ—बाप के बाद पीहर का छूटना, आदि ऐसे सच हैं जो समाज में इसी रूप में परिव्याप्त हैं।

उपन्यास का एक रोचक पक्ष स्वतन्त्राता—संग्राम में जनसामान्य की सक्रिय भागीदारी का चित्राण है, विशेषतः स्त्रियों की। कमला बहन के नेतृत्व में जिस प्रकार विद्यावती जैसी घरेलू महिलाएँ भी अपनी गृहस्थी की व्यस्तताएँ छोड़कर स्वतन्त्राता आन्दोलन में हिस्सा ले रही थीं, उसका परिचय इस रूप में मिलता है, 'कमला बहन ने शुक्रवार की सभा में तय किया कि देशप्रेम का सबूत देने के लिए मथुरा की सभी महिलाएँ शनिवार की सुबह टाउनहॉल पर तिरंगा फहराएँगी। उसके बाद सब मिलकर गाएँगी, 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा, झण्डा ऊँचा रहे हमारा।' गांधी के जादू ने जिस प्रकार पूरे देश को अपने सम्मोहन में बाँधा था, उसका परिचय उनकी हत्या पर विद्यावती जैसी महिलाओं के सुध—बुध खो देने, बत्तीसी भिंच जाने द्वारा दिया गया है। 1947 में हुए देश—विभाजन के 'उलझन, उहापोह और असमंजस के दिनों' का चित्राण भी उपन्यास सामान्य—जन के नजरिए से करता है। औरतों की चिन्ता है कि उनके चूड़ी बनाने वाले मुसलमान लोग भी कहीं चले जाएँगे, ''हमने तो सुनी है फिरोजाबाद भी पाकिस्तान में चला जाएगा। सारे मनिहार अपना साँचा—भट्टी वहीं लगाएँगे।'' ''हाय राम फिर हमें चूड़ी कौन पहराएगा। हम क्या नंगी बुच्ची कलाइयाँ रखेंगी?'' उस समय पाकिस्तान से आए लोगों के शरणार्थी शिविरों में भी लेखिका मानवीय संवेदना से झाँकती है। इस प्रकार पारिवारिक कथा का फलक व्यापकता पाता है।

जब नए जमाने की चाल में ढलती लाला नत्थीमल की पौत्री प्रतिभा अर्थात् उनकी तीसरी पीढ़ी विज्ञापन और मॉडलिंग की दुनिया में प्रवेश करती है तो आधुनिकता की हामी उनकी बहू—बेटे की पीढ़ी भी हतप्रभ रह जाती है। उसके लिए भी यह सुपाच्य नहीं है कि स्त्री—स्वातन्त्रय—निर्णय का अधिकार मेरा है—का उद्घोष करती उनकी बेटी प्रतिभा मुम्बई जैसे वैश्वीकृत महानगर में अपना आकाश तलाशने का जीवन—क्रम अपनाए।

उपन्यास में कुछ ब्रज—प्रचलित जुमले हैं जो कथा में रस पैदा कर देते हैं। लेकिन सवाल यह उठता है कि क्या यह मथुरा के विविध रंगी जीवन का रूपक बन पाया है? एक तरह से यह मथुरा के एक बनिया परिवार के भीतर से स्त्री जीवन को सामने लाता है जो अपनी घुटन से निजात पाने के लिए भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में पैदा होने वाली सहूलियतों में अपनी आजादी तलाशती हैं? लेकिन इसे लेकर पुरानी पीढ़ी में जो दुराव है नयी पीढ़ी में उतनी ही उत्कंठा है। कहीं कोई द्वंद्व नहीं है। क्या यह उस स्मृति आख्यान परम्परा की एकांगी नियति है जो विगत के बिना कोई नया कथानक नहीं विकसित कर पा रही है। उपन्यास को लेकर एक सवाल तो यही बार—बार उठता है कि दुनिया में होने वाले परिवर्तनों और उनसे उत्पन्न द्वंद्वों को यह उसकी विविधता में क्यों नहीं पकड़ पाता?

दुक्खम सुक्खम (उपन्यास), ममता कालिया, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली—11003, मूल्य 270/—

63, केसर बाग, पटियाला—147001

मूल कथावस्तु का अन्यथाकरण

शंभु गुप्त

राकेश कुमार सिंह का तीसरा उपन्यास 'साधो यह मुर्दों का गांव' अपने कथा–विन्यास और शिल्प–प्रविधि में हिंदी के आम उपन्यासों से थोड़ा हटकर है। अगर हम इसे उपन्यास न कहें तो भी काम चल जाएगा। उपन्यास के खोल में यह एक तरह की आपबीती–सा है। इसे कोई आपबीती न कहे, दरअसल इसीलिए इसे औपन्यासिक–सा रूप दिया गया प्रतीत होता है। कथा के बीच में प्रसंगवश एक जगह यों ही नहीं लिखा गया है–''यह कोई साहित्य नहीं है। यह तो एक निरा यथार्थ है।'' (साधो, यह मुर्दों का गाँव, पृ. 32)। जैसा कि हम जानते हैं कि निरा यथार्थ किसी काम का नहीं होता, वह व्यक्तिगतता से आगे नहीं बढ़ पाता, अतः उसे सबके साथ बाँटने योग्य और संप्रेषणीय बनाने के लिए लेखक को कुछ युक्तियों का सहारा लेना ही पड़ता है। यहां डायरी/केस–हिस्ट्री शैली का इस्तेमाल लगभग इसी तरह की एक युक्ति है।

यह मूलतः एक समस्यामूलक उपन्यास है। समस्यामूलक शब्द पुराना हो सकता है, लेकिन यह समस्यामूलकता ठीक वैसी है, जैसी गांधीजी को दक्षिण अफ्रीका में रेलगाड़ी के प्रथम श्रेणी के डिब्बे से उतार दिए जाने पर जिन्दगी में पहली बार गुलामी और नस्लभेद का सबसे तीखा अहसास हुआ था। और तब उन्होंने कसम खायी थी कि वे इसका अन्त तक विरोध करते रहेंगे। मुझे नहीं पता कि व्यक्तिगत रूप से राकेश कुमार सिंह के साथ क्या हुआ, उनका परिवार किस हादसे से गुजरा लेकिन यह किताब जिस मानसी देवी को समखपत की गई है, और जिसकी यहाँ कहानी में हत्या हुई है; वह स्वयं उनकी माँ थीं। यानी कि उनकी माँ की हत्या का आरोप कथित रूप से उनके पिता पर लगाया गया। उपन्यास पढ़ चुकने के बाद एक बार जब फोन पर उनसे मेरी बात हुई तो इस सच्चाई की तस्दीक हुई।

यह हैरतअंगेज है। हिंदी में किसी भी युक्ति से रचे गए इस व्यक्तिगत यथार्थ की आलोचना के औजार उपलब्ध नहीं हैं। लेखक एक व्यक्ति के तौर पर किस कदर यहाँ रचना की पृष्ठभूमि में है, यह मापने–जानने का कोई जरिया हमारे पास उपलब्ध नहीं है। इसलिए ऐसी रचनाओं की समीक्षा ज्यादातर अनुमान या समीक्षक की अपनी रुचि से संचालित होने लगती है जो कि कृति के साथ पूरा न्याय नहीं है।

इस उपन्यास में कथा के नाम पर एक बहुत छोटा–सा घटनाक्रम है। यह घटना तत्वतः

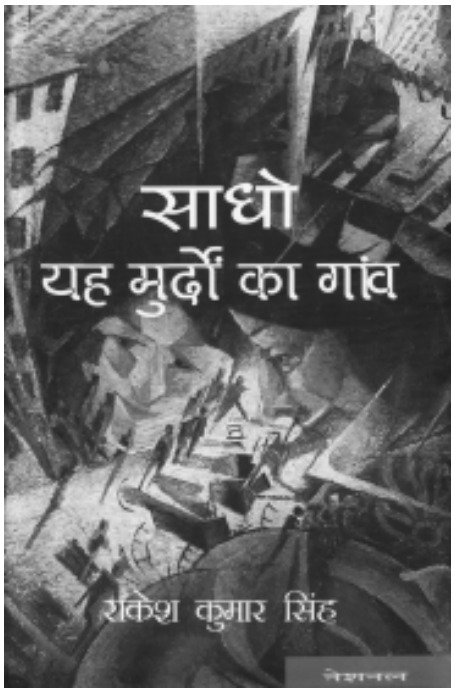

अत्यन्त सांघातिक होते हुए भी इस औपन्यासिक संरचना की पृष्ठभूमि से ज्यादा महत्व की नहीं है। मानसी देवी की हत्या की घटना यहाँ मात्रा एक कथा–बीज की तरह इस्तेमाल की गई है। लेखक का मुख्य या मूल लक्ष्य भारत की जेलों में बिना मुकदमा या चार्जशीट के अनन्त काल के लिए बंद विचाराधीन कैदियों पर विमर्श करना है, जिसका बहुत ही आत्मानुभूत प्रामाणिक आधार लेखक के पास है। यह कोई बैठे–ठाले का या बौद्धिक किस्म का प्रायोजित विमर्श नहीं है। बल्कि इसमें स्वयं लेखक का खून–पसीना और आत्मा शामिल है। यह वाकया लेखक के ऐन सीने पर से होकर गुजरा है। अतः यहाँ बनावटीपन या गढ़ंत के लिए कोई जगह नहीं है। यहाँ सारी वैचारिकता एक कठिन खराद पर चढ़ी है। लेखक यहां कहीं–कहीं इतने ज्यादा तैश में है कि लगता है, वह किसी रचना में संलग्न नहीं है, बल्कि अपना सालों से जमा कोई गुबार निकाल रहा हो। 'पूर्वाभास' शीर्षक उपन्यास का प्रारम्भिक अंश और इस प्रकरण का भी एकदम प्रारम्भिक टुकड़ा; जिसमें लेखक डायरी–लेखन की अपनी कथित प्रक्रिया पर दरअसल अपने मानस–पात्रा दीपांकर चक्रवर्ती के मार्फत प्रकाश डालता है। डायरी तो यहां प्रसंगवश है, लेखक का गुस्सा हिंदी के उस आम यथार्थ–चित्राण, उसकी उस फौरी गढ़ंत की प्रक्रिया पर है, जिसमें लेखक सुने–सुनाए, बौद्धिक रूप से अखजत यथार्थ को ही अपनी मौलिक खोज कहता नहीं अघाता।

मेरा ख्याल है कि इस उपन्यास की रचना–प्रक्रिया का उत्स इसी सत्य का आत्मानुभूत और आत्मपरीक्षित संधान है। लेखक खुद खाद–पानी की तरह इसके मूल में है,यह बार–बार कहने की जरूरत नहीं है। यह उपन्यास विशिष्ट इस अर्थ में है कि लेखक ने

यथार्थ को यहाँ अख़जत नहीं किया है बल्कि यह खुद उसका भोगा हुआ और झेला हुआ यथार्थ है। लेखक ने यहाँ जो किया है, वह यह है कि इस आपबीती को एक समस्यामूलकता प्रदान कर दी है। मेरा ख्याल है कि औपन्यासिक समस्यामूलकता की रचना–प्रक्रिया लगभग यही होती है, जहाँ लेखक आपबीती को एक वैचारिक परिप्रेक्ष्य देता हुआ उसे सार्वजनिक कर देता है। यह समस्यामूलकता की एक भिन्न औपन्यासिक प्रक्रिया है। यह प्रेमचन्द की समस्यामूलकता से तत्वतः भिन्न है। यहाँ, जैसा कि मैंने कई बार कहा, यथार्थ अख़जत नहीं है बल्कि खुद का भोगा हुआ है। यहाँ कल्पना, संयोग, अनुमान, प्रतीति इत्यादि अवयव अत्यल्प या कि नगण्य स्थिति में हैं और यही स्थिति इस समस्यामूलकता को प्रेमचन्द से अलग करती है।

संक्षेप में कहा जाए तो भारतीय कारागारों की स्थिति, विचाराधीन कैदियों का जीवन, उनका नीम अंधेरा भविष्य, अनिश्चित पुनर्वास, उनके समाजशास्त्रीय अध्ययन और इन तमाम मामलों में सरकार की भूमिका (वही), 'न्याय में विलम्ब', 'ए सिपरोटिक डिजास्टर ऑफ इंडियन जुडिशियरी एंड ट्रायल सिस्टम' (वही, पृ. 57) निर्दय एवं हत्यारा तंत्रा; ये सब इस उपन्यास की कथावस्तु का कलेवर तैयार करते हैं। इस कथावस्तु का अन्तिम निष्कर्ष यह है–''तुम्हारी मृत्यु एक सामान्य मृत्यु नहीं है, अवनी बाबू। यह एक हत्या है। सोची, समझी और सुनियोजित हत्या। भारतीय पुलिस, हिंदुस्तानी अदालत और अपने देश की ही जेल तुम्हारे अपराधी हैं। अण्डर सेक्शन थ्री हंड्रेड टू ऑफ इंडियन पीनल कोड...इट्स ए कोल्ड ब्लडेड मर्डर।'' (वही, पृ. 101)

यहाँ यह सवाल उठना लाजिमी है कि आखिर इस कथानक में व्यक्तिगतता के अलावा ऐसा क्या है अथवा वे कौन से तत्व हैं जो इसे सामान्य एवं सार्वजनिक महत्व का बनाते हैं? उपन्यास का पाठकीय दारोमदार दरअसल इसी पर है। और यहीं पर लेखकीय दृष्टि की परीक्षा है। आपबीती एक वाकया हो सकती है, लेकिन वह रचना नहीं होती, जब तक कि उसमें सामान्यता–साधारणता न हो। इस हिसाब से देखें तो यह उपन्यास एक विरल और अपनी तरह का अकेला प्रतीत होगा।

लेखक यहाँ लगभग हर तीसरे पेज पर दीपांकर चक्रवर्ती के मार्फत अवनी बाबू के प्रति अपनी अद्वितीय और अकूत आत्मीयता का पुनरावृत्त आख्यान करता है। यह पुनरावृत्ति इतनी ज्यादा और लगभग एक ही तरह की शब्दावली में है कि आगे पढ़ते हुए ऊब–सी होने लगती है। दरअसल यह एक क्षति–पूरकतकारक युक्ति की तरह सामने आती है। इस उपन्यास की संरचना के भीतर धँसकर देखा जाए तो पता चलेगा कि लेखक की अवनी बाबू के प्रति जो यह पग–पग पर छलछलाती आत्मीयता है, वह इसलिए नहीं है कि ''मैं आपके गाँव–घर का भी तो हूँ। आपका हमवतन, पड़ोसी।'' (वही, पृ. 55)। हमवतन या पड़ोसी होना, निश्चय ही आत्मीयता का एक काफी दृढ़ आधार होता है। लेकिन इसके मूल में वैचारिक या व्यक्तित्वगत गुणवत्ता न हो तो हमवतनीपन या पड़ोसीपन एक यथा–स्थितिवादी/ठस भाववाद से आगे नहीं जा पाता।

लेखक सम्भवतः नक्सलवादी सन्दर्भों से यहाँ सायास बचना चाहता था। वह बहुत संक्षेप और सूत्रा रूप में एतत्सम्बन्धी उल्लेख करता है और आगे बढ़ जाता है। वह उल्लेख करता है कि तीन दिन तक जब मानसी देवी का कुछ पता न चला और थाने में रपट लिखाने के बाद स्थानीय पुलिस जब महज खानापूरी करके हाथ पर हाथ धरकर बैठ गई तो अवनी बाबू ने पलामू में गहन और व्यापक रूप से सक्रिय एक 'भूमिगत संगठन' तक अपनी गुहार पहुँचाई। (दृष्टव्य; वही, पृ. 67)। लेखक इस संगठन के विषय में लिखता है–''पलामू में तब एक भूमिगत संगठन की तूती बोलती थी। गाँवों–कस्बों में समानांतर सरकार चलती थी उस दल की। अपने क्षेत्रा के अपराध और अपराधियों पर उस दल की कड़ी निगाह रहती थी। संगठन प्रायः जनअदालतें आयोजित कर अपराधियों को दण्डित भी करता था।'' (वही)। मानसी देवी की लाश ढूँढवाने में अवनी बाबू के जिन दो विद्याख़थयों–चंडीदास राय और गोविंद विश्वकर्मा–ने मदद की, सम्भवतः वे भी इसी संगठन से जुड़े रहे होंगे; हालाँकि लेखक ने यह सूचित नहीं किया है। ये दोनों विद्यार्थी जिस मुस्तैदी, सरोकार और विवेकशीलता के साथ इस काम को अंजाम देते हैं, वह इस तरह के संगठनों से जुड़े लोगों में ही पाया जाता है। यह किसी सामान्य व्यक्ति के बूते की बात नहीं है। दूसरे के फटे में टाँग हर आदमी नहीं फँसाता और खासतौर से ऐसे व्यक्ति का सहयोग तो कोई नहीं करता, जिसके प्रति पुलिस पूर्वाग्रहग्रस्त हो। तो यह कहने में क्या दिक्कत थी कि चंडीदास और गोविंद दोनों बकायदा इस संगठन से जुड़े थे! खैर, पाठक अनुमान से बखूबी यह समझ लेता है कि ये दोनों लड़के इसी संगठन के हिस्से हैं और यह भी समझने में उसे दिक्कत नहीं आती कि बाद में पुलिस जो एक तरह से शत्रु की तरह अवनी बाबू से पेश आती है तो इसकी असल वजह उनका इसी संगठन से प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष मदद लेना है। अवनी बाबू इस संगठन के कॉर्ड–होल्डर नहीं हैं, लेकिन सिंपेथाइजर हैं, इसमें कोई संशय नहीं है। दरअसल इस या इस जैसे संगठनों से भावनात्मक रूप से जुड़े होने का ही यह बॉयप्रोडक्ट है कि अवनी बाबू एक व्यक्ति के रूप में एक परले सिरे की ख़ुद्दार और दृष्टिसम्पन्न शख्सियत हैं। व्यवस्था और इसके संचालकों के दुष्चक्रों के आगे तो अच्छे–अच्छे पानी भरते है और भरने लगते हैं, लेकिन असल आदमी वह जो इन दुष्चक्रों के आगे चाहे निरुपाय हो जाए लेकिन किसी भी स्थिति में इनके साथ समायोजन न करे। क्योंकि समायोजन का अर्थ ही यह है कि आप उनकी शर्तों को स्वीकार करते है। शर्तें, जो आपके व्यक्तित्व को नेस्तनाबूद करने के अन्दरूनी इरादे से बनाई गई हैं। इन शर्तों के पीछे का मकसद ही यह होता है कि आप अपना योग–क्षेम इनके हवाले कर दें और ये जब जैसा चाहें आपका उपयोग करते रहें। व्यवस्थाएँ कुल मिलाकर ऐसे ही बिना रीढ़ के लोगों को पसंद करती हैं और उन्हें खिल्लतें बाँटती हैं। जो लोग ऐसा नहीं करते और अपने स्वाभिमान और वैचारिकता पर डटे रहते हैं, उनका वही हश्र होता है, जो यहाँ अवनी बाबू का देखा जाता है! यह अवनी बाबू की बेतरह ख़ुद्दारी ही थी कि वे अपनी एक पेशी में न्याय–व्यवस्था के अब तक के तमाशे से आजिज आ भरी अदालत में कथित माननीय जज महोदय से सीधे मुखातिब हो यह कह सके कि–''गन्ना हूँ मैं...गन्ना...! कोल्हू में सीधी तरफ से पेलो या उल्टी तरफ से, मतलब तो मुझे निचोड़ने से है। निचोड़ो तुम भी। मेरे हक में बोलने का कितना रुपया लोगे?'' (वही, पृ. 40)।

लेखक को कहना तो दरअसल यह

चाहिए था कि अवनी बाबू वैचारिक रूप से इतने सुदृढ़ और परिपक्व थे कि यह विचारधारा उनके घर के अन्दर तक प्रविष्ट और स्थापित थी। उनकी पत्नी मानसी देवी तक इसकी संवाहक थीं जो कि हिंदी इलाके के घर–परिवारों में कम ही देखा जाता है। यहाँ नक्सलवाद हो या कोई और, ऐसी ही क्रान्तिकारी परिवर्तनकारी विचारधारा; वह ड्राइंगरूम तक ही ठीक है! घर के अंदर ज्यादा भीतर तक इसका प्रवेश नहीं है। लेकिन अवनी बाबू ऐसे छद्म सिंपैथाइजर नहीं हैं। वे स्वयं ही नहीं, उनकी पत्नी भी इस विचारधारा के रंग में रंगी हैं। सम्भवतः यही कारण था कि अपराधी तक उनसे घबराते थे। यदि अपराधी उनके सामने पड़ जाए तो अपराधी की तो शामत ही आई समझनी चाहिए! क्या करती होंगी, मानसी देवी? उपन्यास में अन्यत्रा उल्लेख आया है, जिसका ऊपर हमने हवाला दिया है कि वह जो एक भूमिगत संगठन वहाँ सक्रिय था, उसकी कड़ी निगाह अपराधियों पर रहती थी और वे जनअदालतें आयोजित कर अपने स्तर पर ही उन्हें दंडित करता था। शासन और प्रशासन के अवयव–पुलिस, इलाके के अधिकारी इत्यादि की तो उनसे मिलीभगत रहती थी। अतः उनसे तो न्याय की कोई उम्मीद की ही नहीं जा सकती थी! अदालतों में भी चूँकि पुलिस इत्यादि की ही तूती बोलती थी अतः वहाँ से भी न्याय की तुरन्त और सही–सही उम्मीद किसी को नहीं रहती थी। ऐसी स्थिति में सामान्य और निरीह जनता इसी संगठन से उम्मीद लगा सकती थी। यह संगठन भी लोगों की उम्मीदों पर खरा उतरता था। जैसा कि हमने ऊपर देखा कि अवनी बाबू को भी अन्ततः इसी संगठन से सहायता मिली थी।

कुल मिलाकर इस उपन्यास की यही कहानी है, जिसे लेखक ने विचाराधीन कैदियों और भारतीय जेलों की भीषण दुरवस्था और न्याय में देरी के कई तरह का ट्विस्ट देकर इधर–उधर करने की कोशिश की है। कहानी दरअसल यह थी कि जिस क्षेत्रा–विशेष बालूघाट की यह घटनावली है, वहाँ कुछ साल पहले सीमेंट का एक कारखाना था, जिसे माखटन नाम के एक अंग्रेज व्यवसायी के मैनेजर नील हार्वे ने खड़ा किया था। आजादी के बाद इसे डालमिया ने खरीद लिया। इसके बाद भी यह कई बार बेचा–खरीदा गया। इसमें दो हजार कामगार कार्यरत थे। अनेक अफसर तथा दूसरे कर्मचारी थे। लेखक ने बार–बार इसके बेचे–खरीदे जाने के कारणों और प्रक्रियाओं पर प्रकाश नहीं डाला है; जो कि इस कथा का एक जरूरी हिस्सा था।

बार–बार बेचे और खरीदे जाने का ही सम्भवतः यह परिणाम था कि इस कारखाने के मजदूरों की माँगें लम्बे समय से लम्बित चली आ रही थीं। एक बार इन माँगों के लिए सारे मजदूर संघों ने मिलकर हड़ताल की। लेकिन यह हड़ताल शुरू होती इससे पहले ही 'मुनाफाखोर मिल मालिक' ने 'लॉक आउट' घोषित कर दिया (पृ. 14)। लॉक आउट जब हुआ तो भगदड़ मची और जहाज के डूबने की तरह सबसे पहले उसमें से चूहे भागे। इस समय तक हमारे यहाँ वह समय आ गया था, जब अन्य की तो बात ही छोड़ दें, कम्युनिस्ट ट्रेड यूनियनों तक के नेता लुंपेन में तब्दील हो गए थे। लेखक उल्लेख करता है कि–''मजदूरों को एक करने के नारे लगाने वाले यूनियन के लीडरान कारखाने के ठप्प होते ही आंदोलन आदि को ताक पर रखकर व्यक्तिगत हितों की चिन्ता में लग गए। कम्युनिस्ट ट्रेड यूनियन की इस लुंपेन नेतागिरी ने अपने मजदूर भाइयों को अनिश्चित भविष्य और बेरोजगारी के अंधकूप में धकेल दिया।'' (वही, पृ. 14)। इतना ही नहीं हुआ; इन मजदूर नेताओं ने अपने नए और अजीब धन्धों से जैसे इस इलाके में अपराध की नींव ही डाल दी! लेखक ने लिखा है–''मजदूर संगठनों के एकीकरण के इन झंडाबरदारों ने कारखाने, मजदूरों और समस्त संघर्षशीलता को भाड़ में झोंककर शराब की भट्टियाँ, किराने की दुकानें या अनाज की आढ़तें खोल लीं। कुछ छुटभैये नेता तो डाके और राहजनी जैसे निकृष्ट धंधे में लगे जरामपेशा लोगों के सहयोगी तक बन गए।'' (वही)। इन स्थितियों में मजदूर, जो केवल अपने श्रम पर जिन्दा रहना जानता है, की हालत क्या हुई होगी; अन्दाज लगाया जा सकता है। लेखक इस बिन्दु पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है–''यहाँ भी सर्वनाश ही हुआ।'' (वही)।

इन्हीं स्थितियों में दरअसल इस इलाके में नक्सलवाद फला–फूला और लोगों का आत्मीय बन गया। यहाँ अगर कोई सीधा–सादा व्यक्ति इस अपराध का विरोध करे तो उसका वही हश्र होता जो मानसी देवी का हुआ। मानसी देवी को तो अपराधियों ने ठिकाने लगाया लेकिन अवनी बाबू को खुद पुलिस ने। अवनी बाबू जैसे सीधे–सादे व्यक्ति को नक्सलवादी कहकर, नक्सलवादी लोगों से उनका सम्बन्ध बताकर, उनके यहाँ से कथित रूप से नक्सलवादी साहित्य बरामद दिखाकर जिस तरह से उनका दमन और उन पर अमानवीय अत्याचार यहाँ की पुलिस करती है, यह बहुत ही खौफनाक वाकया है। अवनी बाबू जैसे खुद्दार आदमी, जिन्हें टूटना मंजूर है लेकिन नाजायज रूप से झुकना कतई नहीं, अमूमन इसी तरह पुलिस के हत्थे चढ़ते हैं। लेखक ने इस प्रक्रिया और प्रविधि का विस्तार के साथ कथांकन किया है। उसने और भी बहुत कुछ अभूतपूर्व इस उपन्यास में किया है। जैसे कि भारत में विचाराधीन कैदियों की अपनी एक अलग प्रजाति का अनुसंधान, भारतीय जेलों का भीषण अमानवीय माहौल और उनकी दुरवस्था, जेलरों की सड़ियल सोच आदि–आदि। उसे जो नहीं करना था, वह यह था कि कथा की केन्द्रीय वस्तु–जो पटरी से उतारकर, एक तरह से उसका अन्यथाकरण–सा करते हुए उसे गौण बना देना और विचाराधीन कैदियों और भारतीय जेलों की भीषण दुरवस्था को केन्द्र में लाकर उसे मुख्य कथावस्तु बना देना, जो कि मुख्य थी ही नहीं! यह मेरा सोचना है। हो सकता है, मैं गलत होऊँ और लेखक मुझसे सहमत न हो। लेकिन उपन्यास की रचना–प्रक्रिया और लेखन–प्रविधि चीख–चीख कर कहती सुनाई देती है कि लेखक ने मूल कथा के साथ सही–सही न्याय नहीं किया। यह न्याय यदि हो पाता तो यह उपन्यास नक्सलवाद–केंद्रित अन्य भारतीय भाषाओं के उन महत्त्वपूर्ण उपन्यासों से टक्कर ले सकता था, जो अपनी दृढ़ता के लिए जाने जाते हैं और अखिल भारतीय स्तर पर जिनकी प्रतिष्ठा है।

साधो यह मुर्दों का गाँव (उपन्यास), राकेश कुमार सिंह; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2/35, अंसारी रोड, नई दिल्ली–110002, मूल्य 125/–

21, सुभाष नगर, एन.ई.बी.अलवर–301001, फोन : 9414789779, 01442370286, 2371179

'पचकौड़ी'_पिकरेस्क उपन्यासों का नया उत्कर्ष

कान्ति कुमार जैन

सुपरिचित कथा लेखिका शरद सिंह का उपन्यास 'पचकौड़ी' हिंदी में पिकरेस्क उपन्यासों की नव्यतम परिणति है। विगत शताब्दी के तीसरे दशक के अन्तिम वर्षों में जब केदारनाथ अग्रवाल के 'पतिया' उपन्यास का प्रकाशन हुआ था तो उसके वर्गीकरण को लेकर हिंदी के कथा विवेचकों को कई प्रकार की जटिलताओं का सामना करना पड़ा था। 'पतिया' जैसे उपन्यासों की हिंदी में कोई परम्परा नहीं थी। न तो उसके पात्रा हमारे परम्परागत उपन्यासों के पात्राों जैसे थे, न ही उसकी वस्तु सामाजिक, ऐतिहासिक जैसी किसी शास्त्रीय कोटि की एल.ओ.सी. में अट पा रही थी। गाँवों में व्याप्त बेकारी, एकरसता और अभावों से त्रास्त युवा–वर्ग कैसे नगरों की ओर पलायन के लिए बाध्य हो रहा था और वहाँ पहुँचकर सुख–सुविधा की तलाश में और उससे भी बढ़कर जीवन रक्षा के उपक्रम में कई कदर्थ माने जाने वाले धन्धों में शरण्य खोज रहा था, इसका जीवंत और बहुरंगी चित्राण केदारनाथ अग्रवाल ने 'पतिया' में क्या किया, हिंदी में पिकरेक्स उपन्यासों के भदभदा द्वार खुल गए। फिर तो 'निराला' का 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'कुल्ली भाट', 'चमेली', 'चोटी की पकड़', 'काले कारनामे' जैसे अनेक यथार्थ मूलक उपन्यास सामने आए। पश्चिम में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप चिमनी साफ करने वालों, जूतों पर पालिश करने वालों, होटलों में कपबसी धोने वालों, लड़कियों की दलाली करने वालों और देह का निवेश कर पेट भरने वालों की जो जमात सामने आई, वह यूरोप के नए जीवन यथार्थ का साक्ष्य दे रही थी। इस नए जीवन यथार्थ के वाहक अकुशल श्रमकर्मी थे। इन नए श्रम निवेशकों के पास केवल अपनी देह और श्रम की शक्ति थी और बदले में पाने के लिए जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ। इस नए जीवन यथार्थ की कथात्मक प्रस्तुति में जिन कथाकारों को विशेष सफलता मिली, उनमें चार्ल्स डिकेंस अग्रणी था। वह स्वयं जीवन के उच्छिष्ट वर्ग का उत्पाद था और सामाजिक विषमता और आख्रथक विपन्नता का मारा हुआ था। उसने 'डेविड कापरफील्ड' और 'पिकविक पेपर्स' जैसी कथाएँ लिखी थीं। पश्चिम में इन नई कथा रचनाओं को पिकरेस्क कहा गया। हिंदी में 'गोदान' के गोबर जैसे अकुशल श्रमजीवी युवकों का गाँवों से नगरों की ओर जो पलायन प्रारम्भ हुआ, उससे हमारे रूढ़िबद्ध सामाजिक जीवन और पाखण्डपूर्ण नैतिक मर्यादाओं की कई स्थापनाएँ बिलट गईं। केदारनाथ अग्रवाल, 'निराला', भैरव प्रसाद गुप्त, नागार्जुन, भीमसेन त्यागी, राही मासूम रजा, मनोहर श्याम जोशी जैसों ने ईषत् हास्य, ईषत् व्यंग्य, ईषत् खिलंदड़ेपन, ईषत् विद्रूप के साथ विशृंखलित होते हुए जीवन और मूल्यों का जो चित्राण किया, वह अपने समय के समाज और उसकी मूल्यचर्या के क्रमिक और अनिवार्य विघटन पर कथात्मक टिप्पणी है। स्वतन्त्राता के पश्चात् 'दाग दाग' उजाले वाले लोकतन्त्रा की स्थापना के साथ हमारे संविधान के सुदृढ़ माने जाने वाले दुर्ग की प्राचीरों में अनेक सेधें प्रकट हुईं। कभी वित्तीय कदाचार, कभी नैतिक स्वैराचार, कभी आरक्षण जन्य पोलें, कभी निर्वाचन तिथि के आगे और पीछे अनाचार संहिता के हथकण्डे। इन सारे दुराचारों ने हिंदी के सजग कथाकारों को नए विषय तो दिए ही, उपन्यासों की शिल्पसज्जा को भी प्रभावित किया। हिंदी के इधर के पिकरेक्स उपन्यासों की विषयवस्तु और पात्रा संरचना सामाजिक विषमताओं से कम, लोकतान्त्रिाक विषमताओं से अधिक प्रभावित और प्रेरित है। हमारा समय कथा साहित्य के विस्तार के लिए जितना अनुकूल है, उतना किसी अन्य विधा के लिए नहीं। हमारा समय महाभारत का समय है, छल–बल, पाखण्ड, कदाचार, घपलों, घोटालों और 'डेजोन्स' से भरा हुआ। शरद सिंह का 'पचकौड़ी' उपन्यास इन्हीं महाभारतीय कदर्थताओं से अपना कथारस सिंचित करता है।

'पचकौड़ी' की लेखिका अपना उपन्यास हमारे जीवन में व्याप्त दैहिक दुराचार और लोकतन्त्रा में भिदे राजनीतिक कदाचार के रासायनिक सम्मिश्रण से सम्भव बनाती है। कहने को तो यह पचकौड़ी नामक एक उच्छिष्ट कुलशील लड़के की कहानी है पर इस कहानी के माध्यम से शरद बुंदेलखण्ड के ग्रामीण जीवन में पसरे हुए नर–नारी के दैहिक अनैतिक सम्बन्धों को खंगालने का कोई अवसर नहीं चूकतीं। लैंगिकता के जितने आयाम हो सकते हैं, सभी के लिए यहाँ अवसर निकाला गया है। इस दैहिकता के इतने विशद प्रसंग इस उपन्यास में वख्रणत हैं कि लेखिका की जानकारी पर सामान्य पाठक को हैरत हो सकती है। शरद इन प्रसंगों को कृष्णा सोबती की तरह बिम्बों के माध्यम से संप्रेषित नहीं करतीं, वे उन्हें सूचनाओं की तरह हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती हैं। मैत्रेयी पुष्पा और कृष्णा अग्निहोत्री

जैसी लेखिकाएँ भी भदेस कहे जाने वाले यौन प्रसंगों को वख्रणत ही करतीं हैं। यौन प्रसंगों का वर्णन करने में शोभा डे या कमलादास भी संकोच नहीं करतीं। वास्तव में ऐसे प्रसंग जितने बोल्ड होंगे, लेखिका उतनी ही चख्रचत होती है। शरद के पक्ष में ऐसे खुले हुए प्रसंगों के बचाव में कहा जा सकता है कि यदि पात्रा पिकरेस्क हैं तो लेखक उन्हें सुरुचि मण्डित कैसे करे और क्यों करे? फिर हमें लेखिका की जानकारी के स्रोतों पर 'राइट टू इनफर्मेशन' के तहत कोई जिज्ञासा करने का अधिकार नहीं है। हमें देखना यह चाहिए कि कोई प्रसंग तर्कपूर्ण और सुसंगत है या नहीं? यदि वह कथा के ताने–बाने में ठीक से रचा–बसा है तो उसे लेखक या लेखिका के कौशल का प्रमाण माना जाना चाहिए। हमारी समीक्षा का आधार कृतिकार नहीं, कृति होना चाहिए। लेखिका ने अपनी बात में स्पष्ट किया है कि ''यह सुनने और पढ़ने में विचित्रा लगता है कि पुरुष पुरुष का दैहिक और मानसिक शोषण करते हैं। इसी विडम्बना के तहत यदि एक पुरुष स्वयं को परिस्थितियों के अनुरूप ढालकर जिन्दगी जीने के लिए संघर्ष करता है, चाहे वह रास्ता किसी अन्य पुरुष की कामेच्छा शान्त करता हो या किसी स्त्राी की दैहिक इच्छा पूरी करता हो तो उसके जीवन को किसी स्त्राी के जीवन से कितना अलग माना जा सकता है? किसी हद तक एक समान।'' शरद के उपन्यासों के पात्रा चाहे वे स्त्राी हों या पुरुष, अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अपनी देह का निवेश करते हैं, उनका शरीर ही उनका बचत खाता है, उस पर उन्हें ब्याज मिलता है। कभी कुछ कम, कभी कुछ ज्यादा। पर ब्याज मिलता तो है। यह ब्याज उनके अस्तित्व का आधार है। इस उपक्रम में कभी उसकी पूँजी डूबती हुई लगती है, कभी उसे आवर्ती ब्याज का लाभ भी मिलता है। कभी इच्छा से, कभी अनिच्छा से पचकौड़ी को अपनी देह का स्वाद देने के लिए स्त्राी और पुरुषों दोनों के द्वारा रात–बिरात, चोरी–छिपे कभी फुसलाया जाता है, कभी बहलाया, कभी धमकाया। इस निवेश के उदाहरण महानगरों में जितने उपलब्ध हैं, गाँव खेड़ों में उससे कम नहीं। नेता, अभिनेता, नौकरानी, अभिनेत्राी, ट्रक ड्राइवर, विधायक सभी अपने–अपने जाल बिछाए बैठे हैं जो फँस जाए उसका बंटाढार।

'पचकौड़ी' की कथा मर्यादा या शुचिता की रक्षा करने का उतना नहीं, जितनी जीवन की रक्षा करने की है। शरद की यह स्थापना कि गरीबी नैतिक, अनैतिक का भेद नहीं मानती, बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'सर्वाइवल' नवउदारवाद की मूल स्थापना है और 'पचकौड़ी' इसी 'सर्वाइवल' की औपन्यासिक कथा है।

वास्तव में पिकरेस्क उपन्यासों का जन्म ही 'सर्वाइवल' के संकट से उबरने के संघर्ष से होता है। गाँवों से भागे या भगाए हुए लड़के जो कल तक नगरों में आकर होटलों में कप बसी धोते थे, ठेला चलाते थे, बसों में कंडेक्टरी करते थे, रेल के डिब्बों में झाड़ू लगाते थे, घूरे पर पन्नियाँ बीनते थे, अब लोकतान्त्रिाक व्यवस्था में नेताओं की सभाओं की संख्या बढ़ाते हैं, उनके झण्डे और बैनर लहराते हैं, उनके नारे लगाते हैं, उनके विरोधियों की सभा बिगाड़ते हैं और कभी–कभी चुनावों में उनकी डमी का काम भी करते है। आरक्षण, गुटबाजी, दादागिरी के लिए ये पिकरेस्क पात्रा लोकतंत्रा में अनिवार्य हो गए हैं। शरद ने इस लोकतान्त्रिाक व्यवस्था की सेंधों को भरने के लिए पिकरेस्क पात्राों का कलात्मक उपयोग किया है। तुम द्विजोत्तम होगे, पर मैं आरक्षित सीट पर तुम्हें रमासुत गड़ेरिया बनाकर चुनाव लड़वा दूँगा, विधायक बनोगे तुम, सुख–सुविधा, सत्ता भोगूँगा मैं। एक तरह से यह लोकतन्त्रा की प्राक्सी व्यवस्था है या लोकतन्त्रा का रिमोट कंट्रोल। मैत्रोयी पुष्पा का उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' यौनिकता की सीढ़ियों पर चढ़कर कैसे सत्ता की मुंडेर तक पहुँचा जा सकता है, इसका साक्ष्य है। वैसा ही आख्यान 'पचकौड़ी' में भी देखा जा सकता है। 'पचकौड़ी' उपन्यास हमारे समय के मंच के सच का जितना चित्राण करता है, उससे ज्यादा परदे के पीछे के सच का। ठकुराइन, चेतन और पचकौड़ी जैसों के आपसी सम्बन्धों से अब हमें आश्चर्य नहीं होता। वह हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन का कटु सत्य है। हाँ, हमारे नेता और मर्यादा पुरुष उसे स्वीकार नहीं करते। पर आई.सी.यू. वार्डों और अस्पतालों में हमारे नेताओं की उपस्थिति केवल स्वास्थ्य जन्य कारणों से ही नहीं होती। 'पचकौड़ी' उपन्यास के बहुत से प्रसंग चीख–चीखकर जैसे यह बतला रहे हैं कि नवजागरण काल के सत्य, शिव और सुन्दर का समय अब लद गया है, हमारा समय सफलता, समृद्धि और सत्ता का है। सफलता, समृद्धि और सत्ता कैसे भी मिले, स्वीकार्य है। यह 'कैसे भी' की समस्या आसान नहीं है। इसमें हमारी अदालतें, हमारी निर्वाचन प्रक्रिया, हमारे न्यूज चैनल, हमारे माफिया दल, हमारी वर्णव्यवस्था, हमारे नेता सभी शामिल हैं। 'पचकौड़ी' उपन्यास का नायक या अपनायक पचकौड़ी गरीबी के धोबीघाट से बहकर कैसे सत्ता के राजघाट तक पहुँचता है, यह जानना हो तो शरद हमारी सहायता करती हैं।

उपन्यास लेखिका ने इस कथा में सन्दर्भनुसार टी.आर.पी., वैध–अवैध बच्चों का उत्तराधिकार, समाचार पत्राों के स्वामित्व का सच, गे, स्टिंग ऑपरेशनों की हकीकत जैसे प्रश्नों पर भी विचार किया है। उसकी सहानुभूति नैतिकता या शुचिता के साथ उतनी नहीं जितनी जीवन अस्तित्व की रक्षा के लिए किए गए उपक्रमों के साथ है। वह मानती है कि सहानुभूति से पेट नहीं भरता और न सिर को छत मिलती है। उसके इस मंतव्य पर अँगुली उठाने वाले दूध के धुले लोगों की कमी नहीं होगी कि कोई वेश्या केवल देह सुख के लिए अपना तन नहीं बेचती।' नीति के ही नहीं, राजनीति की वास्तविकता के भी बहुत से सच पचकौड़ी में बिखरे पड़े हैं, जैसे–

–विकास कार्यों में यश और पैसा दोनों होता है।

–आप अपना कमीशन तय कीजिए और सड़क का ठेका दे दीजिए।

–सड़क सुधर जाए या बन जाए तो फिर जनता नहीं पूछती कि आपने कितना कमीशन खाया?

–इतना मत खाओ कि वह घोटाले की श्रेणी में आ जाए।

–उस प्रतियोगिता में डटे रहने के लिए साम दाम दण्ड भेद, सब उचित है, अनुचित कुछ भी नहीं।

'पचकौड़ी' पिकरेस्क पात्राों की जिजीविषा की गाथा तो है ही, वह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष करती हुई और स्थापित मान्यताओं को चुनौती देती हुई उच्छिष्ट पात्राों के बहाने हमारे जीवन मूल्यों के निरन्तर हाशिये पर धकेले जाने की चिन्तनीय गाथा भी है। सत्य और नीति के स्थान पर सफलता और सत्ता के महत्त्वपूर्ण हो जाने की गाथा।

पचकौड़ी, शरद सिंह, सामयिक प्रकाशन, 3320–21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002 मूल्य : 300.00 रु.

5, विद्यापुरम, मकरोनिया कैम्प, सागर (म.प्र.), पिन–470004, दूरभाष–07582–262354

रोजमर्रा की जीवन–'इच्छाएँ'

प्रकाश त्रिपाठी

कुमार अंबुज किसी परम्परा के कहानीकार नहीं हैं, बल्कि वह स्वयं एक नई परम्परा गढ़ने का प्रयास करते हैं। इसीलिए तो हमें उनकी कहानियों में नए कथानक, नया शिल्प– विधान, नए–नए जीवन्त पात्रा और जीवनानुभव की नई दुनिया देखने को मिलती है। सहज और चुटीली भाषा के साथ उनकी कहानियों में पात्राों की भीड़ हमें देखने को नहीं मिलती। लेकिन उनकी कहानियाँ हमें आहत जरूर करती हैं।

'इच्छाएँ' कुमार अंबुज का पहला कहानी संग्रह है। इसमें कुल पन्द्रह कहानियाँ संकलित हैं। वे अपनी कहानियों में मनुष्य जीवन में प्रतिदिन घटित हो रही घटनाओं को बड़ी बारीकी के साथ प्रस्तुत करते हैं। 'हकलाहट' कहानीकार की एक ऐसी ही कहानी है जिसमें लेखक समाज के उन अराजकतावादियों, झूठे, मक्कारों व नकाबपोश लोगों की ओर इशारा करता है जो सही बात को कहने में हकलाते हैं, यानी सत्य को भीतर और झूठ को बाहर दिखाते हैं। यह 'हकलाहट' वर्तमान पीड़ित समाज की छटपटाहट है। लेखक स्त्राी जीवन की सूक्ष्म संवेदनाओं एवं भावनाओं को पढ़ने का सफल प्रयास करता है। उसकी सोच में बदलाव एवं मुक्ति की कामना करता है। समाज में घटित हो रही समस्त घटनाएँ अप्रत्याशित हैं। अमीरी–गरीबी, बेरोजगारी, पुलिसिया कानून, हत्या, लूट, डकैती, बलात्कार, रिश्वतबाजी, धोखाधड़ी एवं चोरबाजारी सब कुछ अप्रत्याशित है। कुमार अंबुज की कहानियाँ व्यक्ति के मन में दृढ़ इच्छाशक्ति पैदा करती हैं, अपने समय एवं समाज की सही पड़ताल करती हैं, लोगों की समय से पहचान कराती हैं। आदमी की बदलती नीयत और उसके दोहरे चरित्रा का पर्दाफाश करती हैं। इच्छाओं के दास हो चुके आदमियों की बखिया उधेड़ती हैं। बदलते मानुषिक स्वार्थ, लिप्सा, मक्कारी, धूर्तता,ओझलता, आवारापन एवं कायरता को बड़ी बेबाकी से प्रस्तुत करती हैं; रूढ़ियों, अन्धविश्वासों का खण्डन करती हैं। विचारों की टकराहट, द्वन्द्व एवं प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करती हैं। भुखमरी, बेकारी एवं गरीबी का कारुणिक दृश्य प्रस्तुत करती हैं। हमारे आसपास घटित हो रही घटनाओं के कारण एवं उस पर बेकसूर लोगों को निर्दयता से पीटती पुलिस के काले कारनामों को (अप्रत्याशित रोग की कथा) उजागर करती हैं। झूठी कानून व्यवस्था का भी खण्डन करती हैं। 'बारिश' कहानी के माध्यम से कहानीकार मनुष्य एवं प्रकृति–जीवन के हर क्षण को बखूबी याद करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कुमार अंबुज की कहानियों के कथानकों के क्षेत्रा विविधगामी हैं। कहानियों का प्रस्तुतिकरण उत्तम पुरुष शैली में है। पात्राों की संख्या कम होने के कारण ऐसा लगता है कि लेखक ही हर कहानी में मुख्य नायक है।

पात्राों के नामकरण (वर्मा जी, संध्या) जितने आकर्षक हैं, उतना ही उनका चरित्रा। किस पात्रा को कहाँ, कब और कैसे बोलना है और उसको कहाँ नहीं बोलना है इसका अन्दाजा कहानीकार को बहुत अच्छा है। कहानियों के प्लाट बड़े और छोटे दोनों हैं, लेकिन कछ प्लाट तो बिल्कुल छोटे हैं। पता ही नहीं चलता कि कब आरम्भ हुआ और कब अन्त हुआ। जैसे 'खुशी' कहानी। बड़े प्लाटों की संख्या कम (आर्ट गैलरी) है। अतः किसी भी कहानी का प्लाट न तो कम हो और न ज्यादा, अपितु 'मीडियम' हो तो वह अच्छी कहानी मानी जाती है। जैसे कि–'हकला', 'सनक' एवं 'बारिश' कहानियों के प्लाट। कहानियों में 'संवाद' न के बराबर हैं। छोटे संवाद अधिक और बड़े संवाद कम हैं। किसी भी कहानी में यदि संवाद अधिक और छोटे हों तो वह सफल कहानी मानी जाती है, पर कुमार अंबुज की कहानियों में छोटे संवाद अधिक व बड़े संवाद कहीं–कहीं हैं। कहानी के बड़े–बड़े संवाद कहानी को कमजोर बनाते हैं।

जिस देशकाल वातावरण में कहानीकार कहानियाँ लिखता है उसमें घर, प्रकृति, घटनाएँ, भीड़, चौराहे, पशु–पक्षी, दिन–रात, बाजार, सड़क, खेल के मैदान आदि अनेक ऐसे चित्रा हैं जो कहानियों को सुन्दर व सुगठित बनाते हैं। कहानियों में कहानीकार का कवि व्यक्तित्व कई जगह ('बारिश') कहानी में उभरकर आया है। इससे स्पष्ट होता है कि कुमार अंबुज की कहानियों पर उनका कवि व्यक्तित्व ही भारी जान पड़ता है।

कहानियों की भाषा बहुत संवेदनशील है। लेखक उसके विविध प्रयोगों एवं रूपों के माध्यम से अपने भावचित्राों को मूर्त करता है। हिंदी के साथ–साथ अँग्रेजी व ठेठ देहाती भाषा का भी प्रयोग किया है। उसमें कोई बनावटीपन नहीं। जैसे सामान्य बोलचाल की भाषा में ही कहानी के पात्रा आपस में बातचीत करते हैं। उसमें व्यंग्यात्मकता, सहजता, सरलता एवं नैतिकता अपने पूरे अर्थ के साथ मौजूद है। लेखक की ज्यादातर कहानियाँ उत्तम पुरुष शैली में लिखी गई हैं, लेकिन उसमें कहीं–कहीं पत्राात्मक शैली, इतिहास और रोमान का सहारा लिया गया है। रूमानियत में कहानीकार अपनी कहानियों में आदर्श एवं उदात्त की स्थापना कर एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना चाहता है।

इच्छाएँ, कुमार अंबुज, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली–110003, मूल्य : 110.00 रु.

52, तुलारामबाग, इलाहाबाद–6, मो. 09415763049

'बहुत बड़ी है कहानी की दुनिया'

ज्योति किरण

कहानी हमेशा आम जन की खास विधा रही है। आमजन की यह विधा हर छोटी–छोटी इच्छाओं, आकांक्षाओं, ख्वाहिशों और संवेदनाओं को प्रभावी बनाने के लिए कहानी की पुरानी परम्परागत शिल्पगत संरचना टूट रही है। स्वतन्त्राता के बाद व्यवस्था से मोहभंग, अतिमहत्त्वाकांक्षा के कारण बढ़ती निराशा, एक झटके में ही सब कुछ प्राप्त करने की लालसा, बेचैनी, भौतिकवादी सोच से आम जीवन ही नहीं कथा साहित्य भी प्रभावित है। विकास के साथ विनाश का सगा और गहरा रिश्ता है। भूस्खलन, बाढ़, सूखा जैसी समस्याएँ कहीं–न–कहीं विकास की देन है। जाहिर है इस नए दौर के रचनाकार इन सवालों से टकराते हैं। लिहाजा आज छोटी–बड़ी ख्वाहिशों, समस्याओं को लेकर अच्छी कहानियाँ लिखी रही हैं। एक ऐसे समय में जब सच बँटा–बिखरा हो, प्रतिबद्धता बँटी–बिखरी हो, सामाजिकता का लक्ष्य जब व्यक्तिवाद हो तब सामाजिक–सांस्कृतिक सरोकारों और जीवन के बुनियादी सवालों को उठाना निश्चय ही कठिन है।

शैलेय के पहले कहानी संग्रह 'यहीं कहीं से' की पहली कहानी 'रौखड़' तूफान, भूस्खलन जैसी प्राकृतिक आपदा पर केन्द्रित है। तूफान, बारिश और भूस्खलन द्वारा लोगों के घर–द्वार, खेत–खलिहान के बह जाने, बदल जाने की खबर तो बहुत परानी है लेकिन तूफान लोगों के मिजाज कैसे बदल देता है, यह खबर कथाकार शैलेय की 'रौखड़' कहानी देती है। सदियों के जातिगत भेदभाव जनित मानसिकता तूफान में बह जाती है। भीषण बारिश और तूफान में पूरे गाँव के लोग बेघरबार हो रहे थे तब सब कुछ भूलकर वे अपनी जिन्दगी बचाना चाहते थे। जब सबका लक्ष्य एक हो जाता है तब कहीं–न–कहीं सब अपने को एक ही धरातल पर पाते हैं। इस तूफान में सिर्फ बचीराम (जाति के अछूत) का घर ही ऐसा था जो तूफान में भी अस्तित्व को बचाए था। सबके सब बचीराम के घर की तरफ दौड़ पड़ते हैं। सामाजिक रूप से उपेक्षित तिरस्कृत बचीराम को आज उसके घर ने काम का व्यक्ति बना दिया है। उपेक्षा करने वाले लोग आज उसके घर में शरण लेने पहुँचे हैं यह सोचकर बचीराम का सीना चौड़ा हो जाता है। कहानी का अन्त भी ध्यातव्य है। मौसम में सुधार आते ही लोग पुनः जिन्दगी की दूसरी लड़ाई लड़ने को तैयार दिखते हैं। बचीराम भी मृत भैरव की बातों को यादकर शक्ति बटोर रहा है। 'नदी किनारे जन्म लिया है तो रौखड़ों से क्या डरना।' यह सुन जयनारायण भी उत्साह में आकर कहते हैं–''वो देखो, सूरज आज अपने सही समय से निकल रहा है। कैसी लालिमा छा रही है आसमान में। हममें भी ऐसा ही पवित्रा, लाल और गर्म खून हो कि जिन्दगी का गलीजपन सुखा सके।'' ऐसी सुबह का वाकई सबको इन्तजार है।

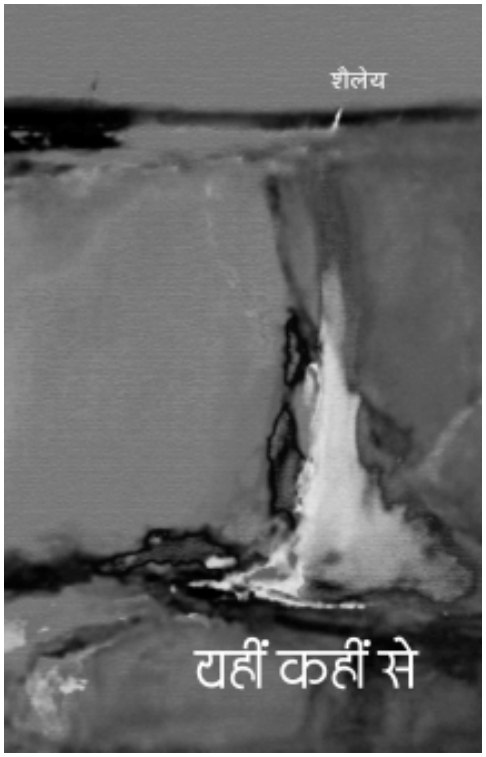

'भँवर' कहानी पहाड़ी जीवन की आम समस्याओं पर केन्द्रित है। आजाद भारत में जब प्रगति और तरक्की की योजनाएँ बनती हैं तब इनकी समस्याएँ शायद पहाड़ से ढँक जाती हैं। इसलिए विकास की मुख्यधारा से पहाड़ी लोग अभी भी वंचित हैं। शिक्षा के अभाव में समाज अशिक्षित है, वहीं रोजगार के अभाव में यहाँ के लोग बुनियादी जरूरतों के लिए भी मुहताज है। यही कारण है कि बच्चे खेलने–खाने की उम्र में 'बहादुर' (पहाड़ी कामगार बच्चे) बनकर ढाबों, होटलों में खुद भूखे रहकर लोगों को खाना खिलाते हैं। कहानी की शुरूआत दो बच्चों के संवाद से होती है जो घर से रोजी–रोटी की तलाश में निकले हैं। दोनों अपने मालिक के शोषण से परेशान और दुखी हैं। इनका दुखद पक्ष यह है कि दिन–रात कठिन परिश्रम के बाद भी ये बच्चे दर–ब–दर भटकने को मजबूर हैं। काम लेने वाला मालिक जानता है कि कम–से–कम पैसे में अधिक–से–अधिक काम इन बच्चों से कैसे लिया जा सकता है। घर–परिवार होते हुए भी लगभग बेघरबार होते इन बच्चों की मजबूरी ही मालिकों की मजबूती होती है। ग्रामीण पारिवारिक संरचना की विडम्बना ही है कि गाँव–घर में मजदूरी करने वाला सम्मान हासिल नहीं कर पाता है। लोग मजाक उड़ाकर हौंसला तोड़ते रहते हैं।

कानून व्यवस्था को बनाए रखने के

लिए पुलिस प्रशासन और न्याय व्यवस्था का दुरुस्त होना आवश्यक है लेकिन जो जरूरी होता है वह आज गैर जरूरी हो गया है। लिहाजा पूरी न्यायिक व्यवस्था सन्देह और शक के घेरे में है। 'प्रतिघात' कहानी इसी व्यवस्था के तार–तार होने की खबर देती है। कहानी में एक गाँव के पढ़ने वाले पाँच युवकों की भेंट अपराधी किस्म के कुछ लोगों से होती है जो गाड़ी खराब होने के कारण अचानक रुक जाते हैं। पाँचों युवक सहयोग करने के लिए आगे बढ़ते हैं लेकिन गाड़ी वाले लोग चूँकि गाड़ी में हथियार रखे थे इसलिए पोल खुलने के डर से पाँचों युवकों को दूर से ही डराने–धमकाने लगते हैं। अस्वाभाविक प्रतिक्रिया से पाँचों युवकों के मन में सन्देह पैदा होने लगता है। ये युवक तमाम ग्रामीणों के साथ तथाकथित बदमाशों की जमकर पिटाई करते हैं जिसमें एक की मृत्यु हो जाती है। इसके बाद सबकी नींद उड़ जाती है। पुलिस की दिलचस्पी सिर्फ इस बात में है कि मामले को कैसे पेश किया जाए कि अधिक–से–अधिक माल हासिल हो सके। गाँव वालों को सालों–साल जेल में रखने के बाद भी पुलिस को कुछ मिलने की उम्मीद नहीं थी लिहाजा सभी गाँव वालों को छोड़ दिया गया। पाँचों युवक होनहार थे और उनका पूरा भविष्य सामने था, इसलिए इन युवकों को बरी नहीं किया गया। पुलिस जानती थी कि युवकों को जेल से छुड़ाने में इनके माँ–बाप सब कुछ लुटा देंगे। कहानी का अन्त यहाँ अन्त की तरह नहीं होता है। पाठकों की जिज्ञासा अन्त तक शेष रह जाती है कि तथाकथित अपराधियों का लक्ष्य क्या था? सम्पूर्ण कहानी अपराधियों पर ही केन्द्रित है लेकिन इनका खुलासा नहीं हो पाता है। यही कारण है कि कहानी अन्त में जो प्रभाव छोड़ सकती थी वह नहीं छोड़ पाती है। इकहरा और एकरसतापूर्ण संवाद भी प्रभाव और सम्प्रेषण कम करते हैं। सपाटबयानी से कहानी बिल्कुल एकांगी हो गई है।

कथाकार शैलेय खुद जन संगठनों और आन्दोलनों से जुड़े रहे हैं, इसलिए इस मोर्चे पर उनका अनुभव व्यापक, व्यावहारिक और जमीनी है। संगठन के यथार्थ और आदर्श के फासले को समझना और समझाना उनके लिए आसान है। अक्सर वैचारिक संघर्ष और व्यावहारिक संघर्ष में सही सामंजस्य कायम

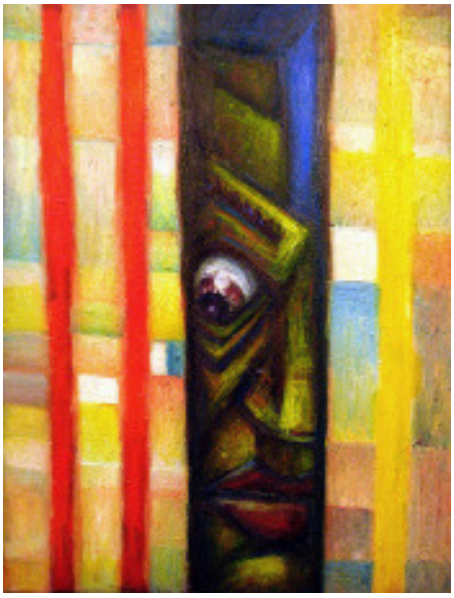

नहीं होने से संगठन के कार्यकर्ताओं में भ्रम की स्थिति पैदा हो जाती है। ऐसी स्थिति में कुछ ऐसे कार्यों को भी अंजाम दिया जाता है जिसका दीर्घकालीन प्रभाव नकारात्मक होता है। संगठन की असली शक्ति युवा वर्ग में निहित होती है और यह शक्ति हमेशा शोषक व्यवस्था को खत्म करने के लिए प्रतिबद्ध होती है। लेकिन मौजूदा व्यवस्था नहीं चाहती कि कोई क्रान्ति उसे बदल दे। फिर भी अन्यायी व्यवस्था के सामने यह संकट हमेशा मौजूद रहता है। 'यहीं कहीं से' कहानी का मजमून यही है। क्रान्ति के नाम पर क्षणिक आवेश जनित कार्य से क्रान्ति दुरूह हो जाती है। इसलिए जनमानस को स्वस्थ और संगठित करना संगठन की पहली प्राथमिकता है। कथानायक लोकेन्द्रनाथ को जब ज्ञात होता है कि संगठन के कुछ छात्रा अन्यायी सूदखोर को जान से मारने का निर्णय लिए हैं तब लोकेन्द्रनाथ उन्हें सचेत करते हैं। एक अत्याचारी को खत्म करने से व्यवस्था नहीं बदल सकती है बल्कि इस तरह व्यवस्था अधिक प्रतिक्रियावादी होकर हिंसक और बेरहम हो सकती है। लोकेन्द्रनाथ संगठन के बच्चों से कहते हैं–'देखो, सोचो यह देश इतना बड़ा है। सवा अरब जनसंख्या है। चारों तरफ अन्धकार पसरा हुआ है। राजनीति को, माफियाओं और पूँजीपतियों का परस्पर गहरा गठजोड़ है। और इनके मुकाबले आखिर कितनी ताकत है तुम्हारे पास? इस तरह आखिर कितने जमींदारों, साहूकारों, सफेदपोश नेताओं, मवालियों, डी.एम.कमिश्नर तुम मारोगे? एक मारोगे, दस नए खड़े हो जाएँगे। पहले से भी अधिक खूँखार। अन्ततः एक रोज तुम ही मारे जाओगे। हो गई क्रान्ति की एक छोटी–सी ज्वाला खत्म। इसलिए सवाल पहले जनता की चेतना विकसित करने का है। सामाजिक, सांस्कृतिक, आख्यथक व राजनीतिक सरोकार बढ़ाने का है। आमूल परिवर्तन की समझ पैदा करने का है।' यह सच है कि स्वस्थ परिवर्तन लाने के लिए जनमानस को बदलना आवश्यक है। इसके बिना कोई भी परिवर्तन अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। एक महत्त्वपूर्ण संकेत इस कहानी में शैलेय यह देते हैं कि आज के दौर में मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित होना और मार्क्सवाद पढ़ाना भी किसी जुर्म से कम नहीं है। यही कारण है कि लोकेन्द्रनाथ का मार्क्सवाद पढ़ाना भी व्यवस्था को गँवारा नहीं है। कई मायने में यह कहानी महत्त्वपूर्ण है। कहानी का मूल मंतव्य क्रान्तिकारी संगठनों के लिए एक जरूरी संदेश है। संगठन के कुछ अति उत्साही युवकों द्वारा जोश में आकर अक्सर ऐसे काम किए जाते हैं जिसका दीर्घकालीन प्रभाव नकारात्मक होता है। नकारात्मक प्रभाव को सकारात्मक बनाने के लिए सांगठनिक स्तर पर बदलाव भी समय की माँग है। 'नासूर' कहानी के नायक वंशीधर को भी घर गृहस्थी की छोटी–बड़ी समस्याएँ जैसे निगलने को तैयार हैं। पत्नी आनन्दी गरीबी के कारण मर गई। ठाकुरों के वहशीपन से बेटी गोमती की जान चली गई। बेटा घर छोड़कर भाग गया। वंशीधर की जिन्दगी के ये वो सोपान थे जहाँ से गुजरते हुए वे बार–बार मौत से गुजरते हैं। जिन्दगी का सारा रस जब निचुड़ गया था तब गाँव की ही एक विधवा स्त्री 'हँसी' उनकी जिन्दगी में हँसी बनकर आती है। लेकिन भारतीय समाज यह कभी बर्दाश्त नहीं करता है। आपस में लड़ने वाला समाज अक्सर ऐसे मौके पर एक हो जाता है। लेकिन हँसी की हँसी पंचायत में भी कायम रहती है। पंचायती सभा में जब हँसी एक–एक कर सबकी पोल खोलने लगती है तो सन्नाटा छा जाता है। वह कहती है–'अपनी फूटी किस्मत के कारण मायके के बचपन से लेकर ससुराल में आज तक तरह–तरह से मार ही तो खाती आ रही हूँ। रतिराम (पति) को तो दुनिया जानती थी। शराब और जुए के अलावा उसे और कुछ दिखाई नहीं देता था। इतने बड़े समाज में

केवल वंशीधर ही हैं जिनसे मुझे घर जैसे सलीके की दया और सहायता मिली है। दुनिया–समाज में इज्जत से खड़े होने, लड़ने की हिम्मत मिली है। इसलिए कहे देती हूँ कि आज अगर किसी ने पण्डित जी की ओर ऊँगली भी उठाई तो उसे पहले हँसी को खत्म करना होगा...।'' हँसी की इस बेबाकी से लोगों की जुबान तो बन्द हो गई लेकिन व्यवहार नहीं बदला।

शैलेय की 'जेब' कहानी भी काफी रोचक और प्रभावपूर्ण है। सही मायने में शैलेय की कहानी कला यहाँ निखरती हुई प्रतीत होती है। भाषा में सहजता भी है और सम्प्रेषण भी। सेवानिवृत्त अध्यापक की व्यथा यहाँ अन्य आम अध्यापकों से जुदा नहीं है लेकिन इससे मुक्ति के उपाय शायद यहाँ भी नहीं हैं। मास्टर जी का परेशानी का मुख्य सबब यह है कि सेवानिवृत्त होने के बाद कोई भी काम बगैर पैसे (घूस) के नहीं होते हैं। मेहनत की गाढ़ी कमाई जब ऐसे निकल जाती है तब मास्टर जी का दिल फटने लगता है। ट्रेन में टी.टी. पैसे लूटता है और वेटिंग रूम में उनकी प्यारी जेब कट जाती है। घर से निकलने के बाद से जेब से उनका ध्यान एक सेकेंड के लिए भी नहीं हटा। जेबकतरे का भय हमेशा ही उनके चिन्तन के केन्द्र में रहता है। इसके बावजूद ट्रेन से सही–सलामत उतरने के बाद वेटिंग रूम में उनकी जेब कट जाती है। सुबह जब मास्टर जी को पता चलता है तो आँखों के आगे अन्धेरा छा जाता है। शिकायत करने पर पुलिस भी जाँच के लिए पहले पैसे माँगती है। जिस पर शक है उसका नाम पूछते हैं। 'मास्टर जी किसका नाम लेते? उन्हें तो अपने चारों तरफ जेबकतरे ही जेबकतरे दिखाई दे रहे थे। कोई किस भेष में–कोई किस भेष में। खिसियाए हुए से वे उदास भारी कदमों से इस तरह किनारे हो लिए मानो वे अभी–अभी अपनी ही जेब से यकबयक धम्म से गिर पड़े हों।' इस समस्या से सब वाकिफ हैं लेकिन इस कहानी में इस समस्या को अलग अन्दाज में उठाया गया है। इस कहानी में एक सुर है, एक लय है जिसमें मन डूब जाता है। भाषा और भाव की दृष्टि से संग्रह की तमाम कहानियों में यह कहानी बेहतर है। संग्रह की अन्तिम कहानी 'कोई है' झुग्गी–झोपड़ी में रहने वाले कमजोर वर्ग के लोगों पर जमींदारों, पुलिस प्रशासन का कहर दिखाती है। पुलिस, प्रशासन और जमींदारों का गठजोड़ निरीह, निर्दोष जनता का पुराना शोषक है। अपने पसीने पर जीने वाला समाज हमेशा संकट में रहता है। विरोध का एक शब्द भी इनकी बर्बादी का सबब बन जाता है। वर्गीय अस्मिता के संघर्ष में कई लोगों की जाने जाती हैं। स्त्रियों के प्रति भी सामंती, घृणित मानसिकता से समस्याएँ गम्भीर हुई हैं। ये कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जो तमाम परिवर्तन और बदलाव के बाद भी आज कायम हैं। गाँव में आज भी जमींदारों, ठाकुरों के सामने मेहनतकश मजदूर लोगों की जान की कुछ कीमत नहीं है। शैलेय पाठकों को कहानी की एक नई दुनिया में ही नहीं ले जाते हैं, विषय की नवीनता और विविधता से समकालीन कहानी को नया और व्यापक आधार भी अपनी विलक्षण संवेदनशीलता और नई अनुभूतियों से देते हैं। परम्परागत और प्रचलित विषय से अलग नए विषय को कहानी में लाने से कहानी की दुनिया निःसन्देह बड़ी हुई है। लेकिन नए विषय के साथ शैलेय को कहानी की नूतन कला और भाषा की नई ताजगी भी ढूँढनी होगी।

यहीं कहीं से / शैलेय / शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली–1100032, मूल्य : 175.00

128 / 138 एच–टू ब्लॉक, किदवईनगर, कानपुर–208011, मो. 09450431549

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की प्रकाशन योजना के अंतर्गत प्रकाशन

1. **The First Published anthology of Hindi Poets**, Imre Bangha, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 225 / –
2. **द्विजदेव ग्रंथावली**, आ. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 200 / –
3. **स्वच्छंद**, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 175 / –
4. **अंधेरे में** (द्विभाषिक), डॉ. कृष्ण बलदेव वैद, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150 / –
5. **कविता का शुक्लपक्ष**, बच्चन सिंह, अवधेश प्रधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 325 / –
6. **राकेश समग्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395 / –
7. **जीवन के बीचोंबीच**, अशोक वाजपेयी / रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350 / –
8. **पंत सहचर**, अशोक वाजपेयी, अपूर्वानंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395 / –
9. **छंद–छंद पर कुमकुम**, डॉ. वागीश शुक्ल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 375 / –
10. **कविता नदी**, प्रयाग शुक्ल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 400 / –
11. **अंतर्लोक** (अध्यात्म सम्बन्धी कविताएँ), प्रो. नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 250 / –
12. **अंतःकरण का आयतन**, अशोक वाजपेयी, रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395 / –
13. **रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने एक संस्मरण**, मनोहरश्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150 / –
14. **स्मृति, मति और प्रज्ञा** : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत, उदयन वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 125 / –
15. **हिंदी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण**, डॉ. पी.सी. जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350 / –

अन्तर्वृत्तियों का आन्दोलन

रेवतीरमण

इन्दु जैन के नए संग्रह का नाम 'हवा की मोहताज क्यों रहूँ' संकलित रचनाओं की प्रकृति के अनुरूप अत्यन्त सटीक है। इसमें एक सौ बारह कविताएँ छह खण्डों में संकलित हैं। संपादन किया है कवयित्री की दो सुयोग्य सृजन–शिष्याओं रेखा सेठी और रेखा उप्रेती ने। उन्होंने एक प्रस्तावना भी लिखी है–'अँधेरे में रंग तराशती कविता'। संग्रह की प्रस्तुति इतनी शानदार है कि हिंदी कविता के अच्छे दिनों का अनुमान होता है। भीतर विविध मुद्राओं में कवयित्री के आकर्षक चित्रा और विचार हैं। एक संक्षिप्त टिप्पणी अशोक वाजपेयी की भी है। अन्दर के धुँआते कबाड़ के बीज'। वाजपेयी जी की मानें तो 'सच्ची कविता सच्चाई को अधिक सच, सुलभ, अधिक पास बनाती है।' इन्दु जैन सच में कवयित्री हैं या नहीं, उनकी कविता सच्ची कविता है या नहीं–इस सम्बन्ध में वाजपेयी जी ने कुछ नहीं कहा है लेकिन प्रसंगवश, उन्हें 'सच्चा आधुनिक' माना है। उन्हीं के शब्द हैं–'इन्दु जैन अँधेरे की कवयित्री नहीं हैं और उनके यहाँ उजाला और उल्लास बाकायदा है।' लेकिन एक सच्चे आधुनिक की तरह उन्होंने बराबर यह जतन किया है कि अँधेरा अलक्षित न रह जाय।' उनमें 'गहरी प्रश्नाकुलता है। अस्तित्व को लेकर, आधिभौतिक चिन्ताओं और मानवीय सम्बन्धों के अन्तखवरोधों तक उनकी नजर जाती है। उनके पास प्रश्न हैं, प्रश्नों के बँधे–बँधाए उत्तर नहीं।' अशोक वाजपेयी उत्तर आधुनिक कविता विश्व के समर्थ नागरिक हैं तो जो कहा है, ठीक ही कहा होगा। मैं एक दूसरी बात कहना चाहता हूँ। अन्तः साक्ष्य के आलोक में।

इस किताब में 'कविता' शीर्षक से भी एक कविता है। उसमें कविता के अनेक प्रकार्यों में एक यह भी मान्य हुआ है कि 'कभी–कभी हिम्मत न कर पाने वालों की सिर्फ आवाज बन जाती है कविता।' उनकी अधिक कविताएँ पाठ की इसी अवधारणा के अन्तर्गत हैं। कविताओं में व्यक्त भाव के पीछे स्थित कवि–जीवन का कोई–न–कोई अभाव। परम अभिव्यक्ति निज के सन्दर्भ में क्षतिपूरक। एक कवि वस्तुतः जैसा और जितना दृश्यमान होता है, सम्भव है, उसके व्यक्तित्व की प्रसन्न अभिव्यक्ति उससे बढ़कर हो। इन्दु जैन अपने रोजमर्रे के जीवन में जो नहीं कर पातीं, उसे कविता–सम्भव बनाती हैं। याद आते हैं निराला–'फूलते नहीं हैं फूल वैसे वसन्त में जैसे तब कल्पना की डाली पर खिलते हैं।' कवयित्री के लिए कविता का प्रमुख विषय 'स्व' है। निज की परख, उस पर ही विमर्श। तब भी, सब समय आत्मकातर नहीं हैं। यह राहत की बात है। कविताओं में खुद की तलाश, खुदी का अहसास का उनका इरादा छिपा नहीं रहता। एक जगह अपनी अभिव्यक्ति

का मर्म टटोलती हुई कवयित्री लिखती है–

मैं जो कहती हूँ, अर्थहीन है।
कसमसाती हूँ। हवा को हिलाती भर
जगह बनाती हुई
वहीं की वहीं गिरफ्तार हूँ
हाथ गढ़ नहीं सकते
पाँव बढ़ नहीं सकते
सिर्फ सोच खलबलाता है। (पृ. 45)

इतनी बेबाकी से आत्मावलोकन इस वक्त शायद कोई अन्य कवयित्री नहीं कर पा रही। स्वयं को सिद्ध करने की अफरा–तफरी में अभिव्यक्ति संयम का बाँध तोड़ देती है। ऐसे कवि बड़ी संख्या में है जिन्हें इतिहास और आलोचना में जगह नहीं मिली तो लगे मंच पर दहाड़ने, दावे करने। खुद ही बोलना खुद ही सुनना, अपनी पीठ आप थपथपाना। इन्दु जैन अपवाद हैं इस दृष्टि से कि उन्हें अपने लिखे की लघुता का संज्ञान है। उनकी कविताओं में चित्त की चंचलता है और चाहत का स्पष्ट उल्लेख भी। अलग से एक जिद भी कि अपने को लिखना है, अपनी तरह से। इसके लिए उन्होंने जो प्रतीक चुने हैं, उपमान जुटाए हैं, उनके अपने हैं। उनमें स्त्री के ढूँढने की आवाजें विचलित करने वाली हैं। चाहे वह सपने में ही क्यों न हो? हाथ में किताबें बैसाखियों की तरह कारगर हैं। मन में विद्रोह पुरुष–वर्चस्व के विरुद्ध। एक सुविधा–सम्पन्न मध्यवित्त परिवार की सम्भ्रान्त कुलशील सुसंस्कृत स्त्री की वेदना और जुझारूपन है तो उसकी सीमाएँ भी। अपनी आदरणीय उपस्थिति की सुरक्षा में हर साँस से सजग एक और महादेवी ही हो सकती है–तथापि इन्दु जैन के कवि चित्त में विरुद्ध विचार उठते रहते हैं, उन्हें उद्वेलित करते हैं। उनके यहाँ प्रकट विकट नहीं, संकुचित हो तो हो।

प्रसंगवश, 1990 में प्रकाशित इन्दु जैन के एक संग्रह 'बुनती आवाजें' का जिक्र

करना चाहूँगा। उसमें उनके जापान–प्रवास की तरल अनुभूतियाँ हैं। उसी में यह कविता भी है –

अगर मैं एक लम्बी यात्राा पर निकल जाऊँ/लौटकर न आऊँ? जिससे चाहूँ मिलूँ/जहाँ से चाहूँ मुड़ लूँ/मना कर दूँ/हामी भर लूँ/हँस लूँ, रो लूँ/बाल फैला/घास पर लेट जाऊँ/कपड़े उतार नदी में पैठूँ निकलूँ/अगर मैं एक लम्बे अस्वीकार से। अपने को स्वीकार लूँ?/जी आऊँ?/कितना भयावह है एक साथ होना–/मन में वेग/घुटनों में दर्द। (बुनती आवाजें, पृ. 81)

ध्वन्यर्थ यह कि मुक्ति के विचार पौरुष के दर्प तक ही सीमित नहीं होते। स्त्राी मन के भीतर उसकी चाहत की उन्मुक्त छवियाँ हो सकती हैं। बोहेमियन और अवांगार्द अकविता के साथ ही दफन नहीं हो गए। कवयित्राी की अन्तर्मन की घुमड़न बेधती है। आचार्य शुक्ल के शब्द उधार लें तो वे 'अन्तर्वृत्तियों के आन्दोलन' की कवयित्राी हैं। कविता–स्थिति अख्रजत करने हेतु वे अपने से बाहर कम ही जाती हैं। उनका आत्म–प्रत्यय अमूमन स्मृति–निर्भर होने से ही कवित्वपूर्ण या कहें भावसंवलित हो सका है–

'कठघरे पालने से जूझकर थका था/कच्ची सुबह का कुलबुलाता बचपना/सिरतनी दोपहरी नींद से खीजकर/उम्र के रिश्ते जोड़े थे/स्नायु के तनावों पर पंजे तौलता/फूँक–फूँककर चला यह मेरापन/तालियों की गड़गड़ाहट से मैंने ही सराहा/इस नट को।' (पृ. 50)

यहाँ 'यह मेरापन', 'इस नट' के सन्दर्भ मेंआत्मालोचन का दुर्दम्य और दुर्लभ स्त्राी–साहस का नमूना है। बचपन जिस पालने में पला वह दरअसल पालना नहीं, कठघरा था। 'स्नायु के तनावों पर पंजे तौलता फूँक–फूँककर चला यह मेरापन'–क्या कहता है? 'पलंग पीठ तजि गोद हिंडोला' की ओर इशारा तो नहीं! इस संग्रह की एक विलक्षण कविता है–'रसायन' इसमें दो भिन्न स्थिति–चित्राों को आमने–सामने रखकर वैयक्तिक को निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति देने की चेष्टा है। एक तो सामान्य स्थिति है–'हर कोई जिस घर में रहा है। पीछे छोड़ आया है। कुछ–न–कुछ हर छूटे घर में अपने पीछे छोड़ आया है। कहीं–न–कहीं अपना कुछ।' (पृ. 56) दूसरा अधिक सर्जनात्मक और सामाजिक है–उसमें औरों की साँस ने उगाई है टहनियाँ/बढ़ाया है जाल/अटकाया है रोड़। राह चलते हर एक ने जोड़ा है नाता हर दूसरे चलते से।' इन दो भिन्न स्थिति–चित्राों से अलग इन्दु जैन अपने अन्दर के शहर का ठिकाना बताती हैं, जिसे फूल–काँटे–जोड़–तोड़ उन्होंने खुद ही बसाया है। न जाने–

'कितने रंगों के जमघट से/बना है अन्दर का धुँधलका/उसमें खुद को रोशनी की तरह तलाशना/ रोशनी का/सतरंग नकारना है।'

क्या यह सभ्यता–समीक्षा का आत्मवाद है? अन्दर के धुँधलके में खुद को रोशनी की तरह तलाशना में खास है धुँधलका। उसका अहसास। तो जाहिर है कवयित्राी एक चुनौती महसूस करती है। वह अपनी शर्तों पर अन्दर–बाहर करती रहती है। अन्दर में बाहर और बाहर का अन्दर तलाशती रहती है। इसमें रोशनी का सतरंग नकारने की वाजिब हिकमतें हैं। परम्परा की पूँछ न पकड़ने की जिद हो तो भी यह अस्तित्ववादी कवायद तो है ही। संवेदना व्यक्तिबद्ध हो या समाज–सचेतन। शायद ही कोई सर्जक ऐसा हो जो न चाहे–

'हर बूँद पर अपनी मोहर/अपना ताला लगाना/अपना परिचय–पत्रा छपवाना/नाम की तख्ती टँगवाना–'

इन्दु जैन यह करती हैं, जानते हुए भी कि एक स्त्राी के लिए यह किसी जुर्म से कम नहीं।

उनके इस संग्रह में एक गीत है, 1964 का लिखा–'मीत हमारे।' 'चैत चाँदनी खिली। खुली रंगीन बदलिया।' इसमें सहजन की चिकनी डाल का बिम्ब आता है। उस पर उगे हरे रंग के पत्ते। बौराये आम्रवृक्ष, छोटी अमियों से लदे। मन की फुलबगिया में चाँद–सी उगी यादें, तितली के पंख मिलकर कोमल–मधुर स्वच्छन्द–सरस की अनुभूति लगाते हैं। काव्यारम्भ के समय की संवेदना सभ्यताक्रान्त नहीं है। उस दौर की कुछ और प्रेम कविताएँ इसमें हैं। एक सुन्दर युवती के संस्कार पगे स्वरारोह को सभ्यता अभी छू न सकी। लेकिन कालान्तर में स्त्रौण भावुकता तिरोहित हो जाती है और उसकी जगह लेता है स्त्रीवादी विचार। 1977 की लिखी एक कविता में यहाँ तक कि चुम्बन और चाँटे का फर्क भी मिट चला है–

'चुम्बन खलल है दिमाग का/चाँटा भी/वर्ना क्या आता जाता है/होंठ या हथेली की चटकन से?/हार–जीत भूलकर ही बेखौफ होता है मन।' (पृ. 179)

कहना न होगा कि इन्दु जैन अन्य से अधिक स्वयं को सांत्वना देना चाहती हैं। उनकी अन्तश्चेतना में स्मृतियों का कोलाहल है तो भूल जाने की कला–युक्तियाँ भी कम मनोरम नहीं हैं। उनकी वेदना एक पके पेड़ का रूपक है–मोह और मुक्ति के बीच। एक पूरा जीवन जीने का सन्तोष ही समाहार हो जैसे। कहीं वह मरियम की मुद्रा है तो कहीं चण्डी की छाया प्रतिमा। एक स्त्राी को क्या होना चाहिए? स्त्राी या पुरुष? इन्दु जैन की आकांक्षा की स्त्राी इन्सान को प्राथमिकता देती है। उनकी कविता–यात्राा का विकास–क्रम स्पष्ट है। शुरू में जो ऐन्द्रिकता है, ताजगी है वह वय के विकास के साथ विचार विह्वल हो रही है। कला–कुशलता संवेदना को वाष्प बनकर उड़ने से कब रोक पाती है? रूपकों की कतार दृष्टान्तों में तब्दील होने लगे तो समझना चाहिए कि वाणी की देवी के बाल सफेद हो गए हैं और वे धूप में सफेद नहीं हुए हैं। माता–पिता, छात्राएँ, रिश्तेदार, बेटियाँ, पगडण्डी, जंगल, अलार्म, इन्विजिलेशन, शिक्षा विषय कोई हो, कविता तो भाषा ही रचती है। 'हमशाया' की बात और है। उसकी मीमांसा एक प्रबन्ध का प्रसार चाहती है। इसमें ये पंक्तियाँ भी आती हैं–

'स्याह सागर की पनडुब्बी में/तुम्हारे–मेरे अनछपे अक्षर/बोलते रहे हैं मौन अर्थ में/झाग दोनों किनारे फेंका लहरों ने/वही बारिश वही धूप।' (पृ. 162)

कवयित्राी की आत्म–समृद्धि का बीजांकुर प्रेमानुभूति में ही पनपा है और वह वृहत्तर होकर भी बाजार–व्यवस्था से अनुकूलित नहीं हुआ। वर्ण्य–विषय परिमित होने पर भी, बिना समूह–सहयोग के भी, सभ्यता–समीक्षा की श्रेणी में। इन्दु जैन की कविता प्रतिरोध का मनोबल बनी रहती है। बहरहाल।

हवा की मोहताज क्यों रहूँ/इन्दु जैन की कविताएँ/संपादन : रेखा सेठी, रेखा उप्रेती, हार्पर कॉलिन्स पब्लिशर्स इंडिया, ए–53, सेक्टर–57, नोएडा–201301 मूल्य–350 रु.।

22, रीडर्स क्वार्टर, यूनिवर्सिटी कैम्पस, मुजफ्फरपुर (बिहार) मो. 09334730479

मनुष्यता के पक्ष की कविताएँ

अखिलेश कुमार दूबे

'पृथ्वी पर एक जगह' शिरीष कुमार मौर्य का नया कविता संग्रह है। संग्रह में कुल इक्यासी कविताएँ हैं। कुछ छोटी और कुछ लम्बी कविताएँ हैं। शिरीष का पहला संग्रह 'शब्दों के झुरमुट में' वर्ष 2004 में प्रकाशित हुआ था। वे हिंदी के युवा कवि हैं और अपनी पीढ़ी के कवियों में उनकी अलग पहचान है। अपने प्रथम संग्रह के प्रकाशन से पहले ही वे चर्चा में आए, जब उन्हें पहला अंकुर मिश्र स्मृति पुरस्कार प्राप्त हुआ। इतनी कम उम्र में ख्याति और पुरस्कार कम कवियों को मिल पाता है। इस दृष्टि से वे विशेष हैं। उन्हें अभी हाल ही में लक्ष्मण प्रसाद मण्डलोई पुरस्कार समीक्ष्य कृति 'पृथ्वी पर एक जगह' के लिए घोषित हुआ है।

शिरीष के नए संग्रह की कविताओं में उनकी प्रतिबद्धता अधिक मुखर व स्पष्ट है। कविता पीड़ितों/वंचितों का पक्ष है। इसे कवि ने अपने संग्रह की कविताओं के माध्यम से प्रमाणित करता है। स्त्रियों की दुस्सह कठिनाइयों का जिक्र करते हुए कवि उनके प्रति गहरी संपृक्ति प्रकट करता है। 'बिना माँ के बड़ी होने वाली लड़कियाँ' शीर्षक कविता अवांछित और अभिशप्त स्त्री–जीवन का वृत्तांत है–''जो पीछे रह गई वे कुछ कोंपले थीं, धूप और हवा में हिलती हुई, पूरे उत्साह से, हर किसी को लुभाती, कभी–कभी तो अचानक ही उन्हें चरने चले आते, मवेशी, अपना मजबूत जबड़ा हिलाते।'' (पृ. 187) स्त्री का जीवन मृत्यु से पहले व मृत्यु के बाद भी परिवर्तन की सारी सम्भावनाओं से मुक्त है, कहकर कवि ने भारतीय स्त्री का निर्मम सच उपस्थित कर दिया है–''ये लड़कियाँ भी माँ बनेंगी, और उसी राह चलेंगी, दुनिया में रहते हुए या न रहते हुए भी बहुत अलग नहीं होगा इनका भी जीवन।'' (पृ. 188) किन्तु अपनी कविता में कवि, उनके लिए खूबसूरत दुनिया रचता है–''मेरी कविता में उजाला बन कर आएँ, वे हमेशा, वैसी ही खिलखिलाती, शरारती और बदनाम, और मैं उजागर करता रहूँ जीवन उनके वास्ते, लेकिन अपनी अनहुई बेटी की तरह हमेशा ही दिल की गहराइयों में कहीं सोच कर रखूँ, उनके लिए एक नाम।'' (पृ. 188) स्त्री–जीवन की मुश्किलों को कवि ने बहुत निकट से पहचाना है। 'माइग्रेन' शीर्षक कविता में कवि ने स्त्री–जीवन के प्रति अपनी मुकम्मल सहानुभूति और निश्च्छल करुणा की श्रद्धांजलि दी है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति ''किसी बिग बैंग से नहीं/शायद दिनभर के काम में खटी एक स्त्री के माइग्रेन से उपजा,/होगा ब्रह्माण्ड, आधा बनता, आधा तबाह होता हुआ'' (पृ. 158)

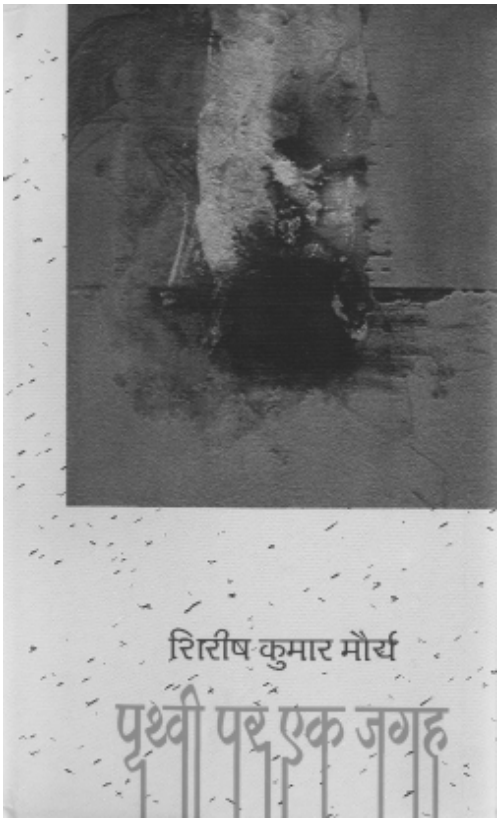

संग्रह में कई कविताएँ सब कुछ खो चुके, किन्तु प्रमथ्यु की तरह मनुष्यता संजोए हुए गरीब सीधे–साधे व मेहनती लोगों पर केन्द्रित हैं। इनमें 'गैंगमेट वीरबहादुर थापा', 'इटारसी–भुसावल पैसेंजर' और 'हंसध्वनि' विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। गैंगमेट वीरबहादुर थापा की पंक्तियाँ थोड़े में ही वंचितों की पीड़ा का आख्यान प्रस्तुत कर जाती हैं। कवि प्रभावशाली तरीके से कंट्रास्ट रचते हुए अपनी रचनात्मक प्रतिबद्धता बता देता है। बिना हल्ला मचाए हुए–''बिना यह जाने कि किसके लिए और क्यों बनाई जाती हैं, सड़कें वे बनाते रहेंगे उन्हें बिना उन पर चले, बिना कुछ कहे, उन सरल हृदय अनपढ़–असभ्यों को नहीं, हमारी सभ्यता को होगी सड़क की जरूरत, बर्बरता की तरफ जाने के लिए, और बर्बरों को भी, सभ्यताओं तक आने के लिए।'' (पृ. 29) 'इटारसी–भुसावल पैसेंजर' कविता में कवि ने मेहनतकश और भोले–भाले लोगों को जीआरपी और टी.सी. द्वारा परेशान करने का बिम्ब देकर, शोषकों की लम्बी फेहरिस्त व शोषण के घिनौने तरीकों पर टिप्पणी की हैं–''उन्हें नहीं पता कि हमारे इस मुल्क में, कहाँ से आती है पटरियाँ, कहाँ तक जाती हैं? गहरे नीले मैले चीकट कपड़ों में उन्हें खटखटाते क्या ढूँढते हैं, रेलवे के कुछेक बेहद कर्तव्यशील कर्मचारी, वे नहीं जानते पर देखते उन्हें कुछ भय और उत्सुकता से, अक्सर वे उनसे प्रभावित होते हैं।'' (पृ. 88)

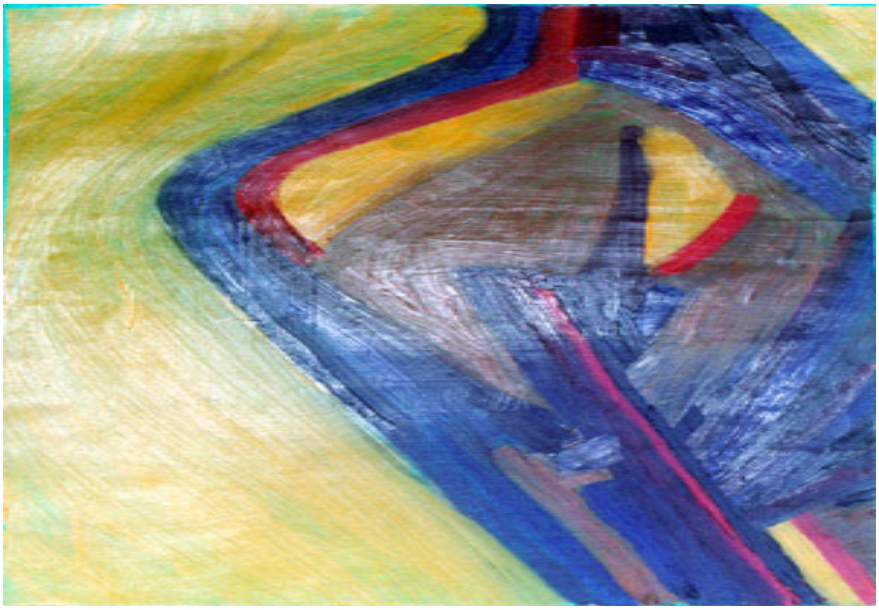

शिरीष अपने समय की चुनौतियों को सावधान होकर सम्बोधित करते हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति में नीति के लिए, मानव मूल्यों के लिए, पर्यावरण के लिए, परम्परा के लिए और सहजता के लिए कोई स्थान शेष नहीं है। 'गिद्ध' कविता में उन्होंने दुर्लभ होती गिद्धों की प्रजाति के संकट की चर्चा करते हुए मानव सभ्यता के अपरिहार्य संकट की ओर स्पष्ट संकेत कर दिया है–''बहुत कम समझा गया उन्हें इस दुनिया में, ठुकराया गया सबसे ज्यादा, जिन्दगी का रोना–रोते लोगों के बीच, वे चुपचाप अपना काम करते रहे, धीरे–धीरे सिमटती रही उनकी छाया, बिना किसी को मारे, बिना किसी दुर्भावना के, मृत्यु को भी, उत्सव में बदल देने वाली उनकी वह सहज उपस्थिति धीरे–धीरे दुर्लभ होती गई।'' (पृ. 31) कवि बहुत साफ कहता है कि गिद्धों का समाप्त होना किसी एक पक्षी प्रजाति विशेष का नष्ट होना नहीं है, बल्कि पर्यावरण–चक्र का नष्ट होना है और फिर जीवन का स्वरूप कैसा होगा? इसका भविष्य–कथन भी है–''हालाँकि उनके बिना भी बढ़ता ही जाएगा जिन्दगी का ये कारवां, लेकिन उसके साथ ही असहनीय होती जाएगी, मृत्यु की सड़ांध, हमारी दुनिया से यह किसी परिन्दे का नहीं, एक साफ–सुथरे भविष्य का विदा हो जाना है।'' (पृ. 31)

भारत की संस्कृति की खूबी उसकी सामासिकता है। आज यह खतरे में है। सदियों की सहेजी विरासत को बचाने की चिन्ता की कविताएँ हैं–'बेटे की स्कूली किताबें देखते हुए' और 'मियाँ की मल्हार'। हम भावी पीढ़ी को सतर्क भाव से तैयार नहीं कर पा रहे हैं। बच्चों को भारतीय इतिहास, भूगोल, संस्कृति व राजनीति का गलत व्याकरण घुट्टी में दिया जा रहा है। इसके भयावह परिणामों को रेखांकित करते हुए कवि कहता है–''जहाँ कक्षा एक से रटाए जाते हों पूजा–स्थलों के नाम, टूटी–फूटी अँग्रेजी भाषा की सुरक्षित ओट से सिखाया जाता हो, 'गॉड मेड दि होल वर्ल्ड' और यह भी कि मस्जिद जाते हैं मुसलमान, हिंदू जाते हैं मन्दिर सिख गुरुद्वारे और ईसाई जाते हैं गिरजाघर, उसी गॉड को पूजने जो सबका अलग–अलग होता है।'' (पृ. 155)

इसी कविता में कवि, हमारी स्वस्थ परम्परा द्वारा की गई धर्म की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा को पुनर्प्रस्तुत करता है–''आ मेरे बच्चे हम दोनों मिलकर लानत भेजते हैं, धर्मों, मजहबों, पंथों और उनके खुशामद–पसन्द ईश्वरों के बारे में और छुपाती हो उस सबसे बड़ी नियामक शक्ति का नाम, जिसे दबी जुबान से अब भी कुछ लोग, मनुष्यता कहते हैं।'' (पृ. 156) 'तानसेन' भारत की संस्कृति के गौरवशाली अध्याय हैं। जाति, धर्म और सम्प्रदाय की विशेषताओं से ऊपर, बहुत ऊपर। किन्तु आज मनुष्यता जातियों, धर्मों व सम्प्रदायों के दुर्वह बोझ तले अपना वजूद बचाने की अन्तिम लड़ाई लड़ रही है। 'मियाँ की मल्हार' में इसी सच को कवि ने कलात्मक संयम के साथ व्यक्त किया है–''मियाँ कहने का अब जमाना नहीं रहा, और अच्छा हुआ, कि गुजरात में नहीं, ग्वालियर में हुई आपकी मजार, वरना उजाड़ दी जाती, सैंकड़ों बरस बाद भी आपको कत्ल न कर पाने की ऐतिहासिक असमर्थता में, हालाँकि वहाँ तक भी पहुँचेंगे उनके हाथ, एक दिन उनका दिमाग आपको भी पकड़ ही लेगा।'' (पृ. 212)

बुरे को बुरा कहना या अन्याय के विरोध में मुँह खोलने का साहस कितना जरूरी है? अन्यथा दुनिया रहने लायक नहीं रह जाएगी। अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष भी, शिरीष की कविताओं की खूबी है। 'बोलना', 'शब्द और पोस्टकार्ड का गीत', कविताएँ, इस दृष्टि से संग्रह की महत्त्वपूर्ण कविताएँ हैं। कवि साफ–साफ कहता है कि बोलना व सही समय पर सही बात बोलना निहायत जरूरी है। 'पोस्टकार्ड का गीत' कविता हमारे समय के घनघोर दबावों को समूची इंटेन्सिटी के साथ व्यक्त कर देती है–''आखिर दुनिया में बातें ही कितनी हैं, जिनको, लिखा जाएगा खुलकर?'' (पृ. 63) शिरीष हमारे समय की दुर्दम कठिनाइयों का जिक्र करते हुए भी मुट्ठी भर बच गई मनुष्यता की ओर इशारा करते हैं और सुन्दर संसार के स्वप्न को अपनी कविताओं से ओझल नहीं होने देते हैं। यह कवि की उपलब्धि है–''मुझे एक बार फिर, ढेर सारे, अन्धेरे और एक गुमनाम तलघर से बाहर, किसी बहुत जीवन्त, और रोशन दुनिया की तलाश है।'' (पृ. 182)

शिरीष की कविता सुन्दर बिम्बों की भी कविता है। पहाड़ी जीवन के संघर्ष और उनसे कवि का सघन व आत्मिक परिचय उनके बिम्बों की रचना को सहज व सप्राण बनाता है। संग्रह श्रेष्ठ कविता–परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

पृथ्वी पर एक जगह/शिरीष कुमार मौर्य/शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली–110032, मूल्य 250 रु.

पी.एन.जी. राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रामनगर, नैनीताल (उत्तराखंड)–244715

एक खिच्चा कवि समकालीन कविता के खेत में

ओम भारती

कविता की मुक्ति, कविता की तीसरी आँख, कविता का अर्थात्, कविता की संगत, कविता का तिर्यक प्रभृति समालोचना की कृतियों से परिचित होने के कारण स्वाभाविक ही था कि 'कविता का सर्वनाम' शीर्षक किताब मेरे हाथ आई तो मुझे लगा कि यह भी इसी कड़ी में होगी, और काव्यालोचक केन्द्रित किताब ही होगी। किन्तु अन्दर के पृष्ठों में तो यह कविता पुस्तक निकली। यह युवा कवि सुनील कुमार पाठक की 45 कविताओं और 2 गजलों का संकलन है। सुनील 'भोजपुरी कविता में राष्ट्रीय चेतना' पर शोधरत हैं, और संप्रति उपमुख्यमन्त्री, बिहार के जनसम्पर्क पदाधिकारी के रूप में सेवा में हैं। उनकी पूर्व में प्रकाशित पुस्तक 'नेवान' है जो भोजपुरी का प्रथम हाइकू–संग्रह बताया गया है।

पुस्तक पर दी गई टिप्पणी में कहा गया है–''फिर दिखा है सम्भावनाओं के दूध से भरा एक मक्के के दाने जैसा खिच्चा कवि, समकालीन कविता के खेत में। अड़ोस–पड़ोस गाँव–गँवई की समस्याओं से जूझता, अपने सामयिक सरोकारों की दस्तक देता एक नितान्त संवेदनशील कवि। बगैर कविता के पिटे–पिटाए ढाँचे में अपने को फिट किए, वह किस्सागोई के धरातल से कब धीरे–से सरककर कविता के आँगन में उतर आता है, पता ही नहीं चलता।'' इन पंक्तियों के प्रकाश में संग्रह की अनेक कविताएँ आशान्वित करती हैं। विशेष तौर पर 'अरे चुप भी रहिएगा', 'मैडम आप कितनी कमजोर हैं', 'श्मशान राग', 'डॉक्टर चाचा', 'रेणु मैम', 'शुक्लाजी बहुत बेचैन दिखे', 'जीऊत काका की चिट्ठी', 'थोरिके दिन और', 'जूते की उछाल' जैसी कविताओं में युवा सुनील की प्रतिभा की आँच स्पष्ट है।

'एक कविता अपनी सी' इस संग्रह की प्रथम कविता है जो कविता को लेकर कवि की समझ और 'अप्रोच' को खोलती है। इसे पुस्तक के प्राक्कथन के रूप में भी पढ़ा जा सकता है। इस संकलन ने चार हाइकू और दो गजलें भी सहेजी हैं। ये रचनाएँ कवि के, 1988 से शुरू होकर 2009 तक के, इक्कीस वर्षों के सफर के विविध पड़ावों के परिचायक हैं। पहली गजल के ये दो शेर पाठकों को अवश्य ही भाएँगे।

'तूने तो गम की परवरिश की है
आज तेरी भी आँख भर आई।

और

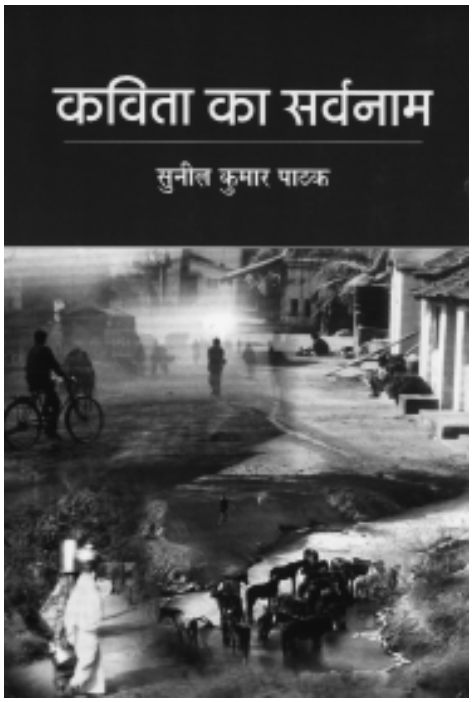

नाव ने तो डुबो दिया था मगर
लेके तट पर मुझे लहर आई'

संग्रह के अन्तिम सफे पर दूसरी गजल का यह शेर भी आकृष्ट करता है–

'मुन्ना खेले कूदे जाकर मठिया पर
घर में भींगे बाल सुखाती है लड़की।'

स्त्री विमर्श इन दो पंक्तियों में बड़ी सफाई से, सादगी और सहजता से, बहुत खुलकर बोल रहा है। बेटे को कहीं भी खेलने की आजादी है, लेकिन बेटी पर इतना पहरा है कि उसे अपने गीले बालों को भी घर के भीतर ही सुखाना पड़ता है। सामाजिक यथार्थ को रचने में कवि ने कौशल दिखाया है।

लेकिन संग्रह में ज्यादातर कविताएँ गद्य की हैं। इनमें कहानियाँ अथवा संस्मरण भी आ गए हैं। कवि स्वयं कहता भी है– 'मैं साफ कहता हूँ–/मैंने कविता लिखने की/कोई कोशिश नहीं की है/मैंने कुछ बातें/अपने से जुड़े कुछ विषय और प्रसंग/जो बाबा के छाते–से/झट खुल गए हैं/बाहर की धूप या बरसात देख/उन्हें तान लिया है।' कवि की सोच सही है। कविताएँ कोशिश करके लिखी नहीं जा सकतीं। हाँ, कोशिश करके उन्हें बेहतर ऊँचाई तक जरूर उठाया जा सकता है। इस संकलन में अनगढ़, अनरची, अनसँवरी रचनाशीलता है, जिन्दगी की अन्तरंग छवियाँ हैं, और यह इच्छा– ''मैं भी कविता का सर्वनाम बन जाऊँ।'' सुनील विनम्रता के साथ बताते है।–''मैं नहीं चाहता कालजयी रचना करना/मुझसे सम्भव भी नहीं/मैं चाहता हूँ/बस यूँ ही कुछ कभी–कभार कह देना।''

इस संग्रह की कविताओं का आधार लें तो होना तो यह चाहिए कि सुनील यूँ ही कुछ कभी–कभार न कहें, लगातार कहें,

और अपनी सम्भावनाएँ जो विस्तार माँगती हैं, वह विस्तार उन्हें दें। हाँ, एक ही कविता में तुम, तुझे, तुम्हारा, तेरा आदि सर्वनामों के साथ–साथ प्रयोग को लेकर सावधान रहें। प्रेमचन्द ने बताया था कि 'साहित्यकार तो वही हो सकता है जो दुनिया के सुख–दुःख से सुखी या दुखी हो सके, और दूसरों में सुख–दुख पैदा कर सके। स्वयं दुख अनुभव कर लेना काफी नहीं है। कलाकार में उसे प्रकट करने का सामर्थ्य होना चाहिए।' सुनील कुमार पाठक प्रेमचन्द द्वारा दर्शाए गए साहित्य के उद्देश्य से परिचित हैं।

इधर हिंदी की युवा कविता के एक सामूहिक 'होने' ने आकार लिया है, और अपने लिए समकालीनता में निजी भूमि की नहीं, नए तट और क्षितिज खोलने के प्रयास किए हैं। ये रचनाकार समय के तजुर्बों में, जिन्दगी में पैठने के ढब और ढंग खोजते हैं और अपनी दृष्टि भी निखमत कर रहे हैं। हिंदी कविता के भविष्य के सम्बन्ध में युवा सर्जना की यह उत्तरदायी सक्रियता सचमुच आश्वस्तिदायक है।

कविता का सर्वनाम / सुनील कुमार पाठक / किताब पब्लिकेशन्स, हाजीपुर रोड, मुजफ्फरपुर–842002, मूल्य : 150 रु.

22 / 9वीं, साकेत नगर, भोपाल–462024 (म.प्र.), मो. 09425678579

संस्मरण

बाकी की बातें

पल्लव

नन्द चतुर्वेदी हिंदी की उस पीढ़ी के कवि हैं जिसने प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के आसपास अपना लेखन प्रारम्भ कर दिया था। वे इस सन्दर्भ में सचमुच बिरले ही हैं कि झालावाड़ नरेश के कवि दरबार से समकालीन परिदृश्य तक उनकी रचना यात्राा निरन्तर जारी है। 'अतीत राग' पिछले सत्तर–अस्सी वर्षों में नन्द बाबू (राजस्थान में स्नेह और आदर से उन्हें यही सम्बोधन दिया जाता है।) के सम्पर्क में आए लोगों के संस्मरणों का संकलन है। समाजवादी आन्दोलन के नेता– कार्यकर्ता, हिंदी कवि–गद्यकार और संगी– साथियों से बने इन संस्मरणों में पिछले बरसों का अतीत पुनर्जीवित होता दिखाई देता है। वहीं संस्मरणों के बहाने कवि नन्द चतुर्वेदी की रचना यात्राा और जीवन की भी एक समृद्ध झलक यहाँ मिलती है जो न केवल साहित्य अपितु समाजवादी राजनीति को जानने–समझने का अवसर देती है। नन्द बाबू की प्रतिबद्धता गैर बराबरी के विरुद्ध संघर्ष में है और उनके लेखन का प्रस्थान बिन्दु भी यही विचार है। यहाँ विचार के चौकन्नेपन में आई रागात्मकता समूची पुस्तक को एकसूत्रा करने वाली है, बावजूद कि संस्मरण भिन्न–भिन्न व्यक्तियों– प्रसंगों पर हैं। नन्द बाबू ने बताया है कि यह लेखन मूलतः आकस्मिक ही है, विभिन्न जरूरतों को पूरा करने वाला– श्रद्धांजलि लेख या मूल्यांकन। इस आकस्मिकता की बुनियाद वस्तुतः आत्मीयता में ही निहित है।

पुस्तक का प्रारम्भ जवाहरलाल नेहरू पर लिखे संस्मरण से हुआ है जिसके बाद क्रमशः जय प्रकाश, राममनोहर लोहिया और राजस्थान के अन्य समाजवादी नेता–कार्यकर्ता हैं। नेहरू से नन्द बाबू का निजी सम्बन्ध–सम्पर्क न रहा लेकिन यह संस्मरण दरअसल उसी आत्मीय जरूरत और पक्षधरता की उपज है जिसका जिक्र ऊपर हुआ है। नन्द बाबू इसे प्रारम्भ करते हैं–'जवाहरलाल नेहरू के साथ मेरी पीढ़ी के लोगों का रिश्ता प्यार और नाराजगी का है, जो हर उस आदमी के साथ होगा, जिसने सत्ता में आने के पहले हजारों रंगीन सपने दिखाए हों, लेकिन बाद में कई कारणों से और खासतौर पर जुझारू इच्छाशक्ति के अभाव में धुँधला गए हों।' आगे नेहरू युग को याद करते हुए–गांधी–नेहरू के मतभेदों की चर्चा करते हुए वे निष्कर्ष देते हैं–'इसमें कोई सन्देह नहीं कि नेहरू भारतीय इतिहास के सबसे असाधारण समय को जनतन्त्रा और समाजवाद का स्वरूप देने वाले बड़े राजनेता थे।' और–'यह श्रेय नेहरू को देना चाहिए कि वे एक विभाजित और गरीब देश को फिर से हिम्मत और स्वाभिमान देने की अथक कोशिश करते रहे।'

स्वातन्त्रयोत्तर समाजवादी आन्दोलन को

समझने की दृष्टि से नेहरू पर लिखा गया संस्मरण वह भूमिका है जिसके अगले अंश नन्दबाबू ने जे.पी. और लोहिया के संस्मरणों में लिखे हैं। जयप्रकाश पर लिखते हुए वे इस प्रसंग को विस्तार देते हैं कि जब प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता कांग्रेस से जुड़ने लगे थे। इस संस्मरण में जे.पी. के व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए नन्द बाबू जब उनकी वक्तृता का वर्णन करते हैं तब यह एक रोमानी अनुभव की तरह प्रतीत होता है। जे.पी.कोटा की एक जनसभा में आए थे–'मैंने किसी बड़ी सभा में पहली बार श्रोताओं में इतने लम्बे समय तक इतने गम्भीर भाषण सुनने की क्षमता को देखा था और पहली बार ऐसे वक्ता को भी जो अपने श्रोताओं की बुद्धि पर इतना विश्वास करता हो। वे जे.पी. के तारुण्य के दिन तो नहीं थे, तब भी वे सुदर्शन और मजबूत सेनानायकों की तरह लगते थे। उनकी भाषण शैली उन समाजशास्त्रियों, प्राध्यापकों जैसी थी जो प्रायः किसी हड़बड़ाहट में नहीं होते और एक सुताख्कक विवेचना के असीम धैर्य के साथ बोलते हैं। अब मैं समझता हूँ कि नई समाज रचना के लिए यह धैर्य कितना आवश्यक है और तब भी जबकि कुछ हाथ न आए।' चीन से युद्ध के उद्विग्न दिनों को याद करते हुए वे जे.पी. के बारे में लिखते हैं–'बहुत से समाजवादी साथियों की दृष्टि में वे संन्यासी हो गए थे। मुझे लगा कि दरअसल नया होना कितना मुश्किल होता है, प्रायः लोग एक निश्चित बने–बनाए सिद्धान्त के इर्द–गिर्द घूमते हैं, वे क्रान्तिकारी भी जो बार–बार दुनिया को बदल देने का आग्रह करते हैं, वे तक, अपने पुराने आग्रहों को न बदलते हुए पूर्वाग्रहों से लिपटे मिलते हैं।' इस नए दौर में भी नन्द बाबू जे.पी. का महत्त्व बताने में नहीं हिचकते–'अब जबकि राज्य शक्ति असंख्य तरीकों से अपूर्व बल, अनैतिक आचरण और अवसरवादिता का लज्जाहीन प्रदर्शन कर रही हो, जे.पी. ही बचते हैं जो अपनी विफलता के बीचों बीच राज्यशक्ति से टकराते हैं और लोक–ऊर्जा, लोक–शक्ति, लोक–नीति को बचाने की बात करते और योजना बनाते हैं।'

नन्द बाबू राजस्थान में समाजवादी आन्दोलन के सिपाहियों में रहे हैं। गाँवों–कस्बों में जाने, गैर बराबरी के विरुद्ध अलख जगाने और जोशीले गीतों से वातावरण बनाने जैसे कई काम थे जो उनके साथी और वे किया करते थे। अपने इन साथियों पर लिखते हुए सम्बन्धों की उष्मा की आँच नन्द बाबू पाठकों तक पहुँचाते हैं। हीरालाल जैन पर लिखा संस्मरण इसका उदाहरण है। एक सामान्य–नामालूम से समाजवादी कार्यकर्ता हीरालाल जैन पर लिखा उनका संस्मरण जैन को बड़े चरित्रा के रूप में स्थापित करने वाला है–'हीरालालजी ने जिस रास्ते का चुनाव किया वह 'जोखिम उठाने वाली जिन्दगी' का रास्ता था। ऊपर से उनकी जिन्दगी विक्षोभ रहित नजर आती है लेकिन अन्दर–ही–अन्दर वहाँ स्थापित व्यवस्था के प्रति असहमतियाँ–ही– असहमतियाँ, राज्य–शक्तियों से टकराने के संकल्प और परिवर्तनकामी शक्तियों के साथ रहने का अदम्य उत्साह है।' इसी संस्मरण में आपातकाल के दिनों का वर्णन करते हुए वे बताते हैं–'राजस्थान में जनता पार्टी का नेतृत्व भैरोसिंहजी करते हैं और उनकी कुशल राजनीतिक रणनीति समाजवादियों के सारे रास्ते बन्द कर देती है। दुनिया में जैसे छोटे लोगों के वंश डूब जाते हैं, वैसे छोटी पाखटयों का भी अवसान हो जाता है। पुराने समाजवादियों को लोग 'खुशनुमा द्वीपों' की तरह याद करते हैं लेकिन मुझे यह दया हमेशा अपमानजनक लगती है।'

समाजवादी आन्दोलन के उत्कर्ष और पराभव पर पुस्तक में आए भिन्न–भिन्न प्रसंग मिलकर आन्दोलन की एक तस्वीर बनाते हैं। यह तस्वीर विश्वसनीयता से भरी हुई है क्योंकि नन्द बाबू इस आन्दोलन से कैसा भी लाभ लेने वाले नहीं रहे–न साहित्य में और न राजनीति में। राजेन्द्र सिंह चौधरी पर लिखे एक संस्मरण का प्रसंग देखिए। ऐसे प्रसंग अब बेहद विरल हो गए हैं। अपनी अकृत्रिमता में इसका सौन्दर्य अनूठा है–'मैं इस आदमी को पचास वर्षों से जानता था। लाल टोपी वाले राजेन्द्र सिंह को। मुझे टीचर्स कॉलेज से बुला ले गया था और फाटक के बाहर खड़ी भैसों में से एक की पूँछ पकड़ाते हुए कहा कि कोर्ट चलना है। जंगलात वाले आदमी इन्हें चरनोट की जमीन पर चरने नहीं देते। जब मैंने हील हुज्जत की तब उन्होंने गाली तो नहीं दी, लेकिन कहा कि तुम चिकने (सिल्कन) सोशलिस्ट हो और खींचकर ले गए। यह भैसों का अद्‌भुत जुलूस था। शहर के लोगों ने सोशलिस्टों का जलवा मान लिया।'

नन्द बाबू के सुदीर्घ रचना जीवन में आए ज्ञात–अल्पज्ञात साहित्यकारों से पुस्तक में साक्षात्कार करना सुखद है। पं. गिरधर शर्मा 'नवरत्न' पर लिखे संस्मरण में नन्दजी ने झालावाड़ नरेश राणा राजेन्द्र सिंह 'सुधाकर' के सान्निध्य में हुए कवि दरबार का वर्णन किया है। ऐसे कवि दरबार को देखने, भागीदारी करने का यह प्रसंग इक्कीसवीं सदी में पढ़ना सचमुच इतिहास में गोते लगाने का सुअवसर ही है। तब बारह वर्ष के रहे नन्द बाबू ने भी इस कवि दरबार में कविता पढ़ी थी। जिन आत्मीय स्मृतियों से इस वृत्तान्त की रचना हुई है वह एक अजाने रहस्यलोक में जाने जैसा अनुभव है। बहरहाल वे पं. गिरधर शर्मा 'नवरत्न' के बारे में लिखते हैं–'भाषा की नई रचना के साथ–साथ वह वास्तव में उस बड़े देश की रचना कर रहे थे जो हमारे संकल्पों को, विचारों को नई तरह से समझने–समझाने की आधारभूमि बनाता है। पण्डितजी नवजागरण के उन कवियों में थे, जो सांस्कृतिक–बहुलता के रचनात्मक अभिप्रायों को समझते थे।' नन्द बाबू ने आगे नवजागरणकालीन एक और विभूति पं. रामनिवास शर्मा पर भी लिखा

है। जब राजस्थान में ही इन लोगों की स्मृतियाँ विलुप्त होती जा रही हैं तब हिंदी के विराट संसार से भला क्या शिकायत की जाए। नन्द बाबू ने ऐसे लोगों को यादकर हिंदी साहित्य के इतिहास में कुछ गौरवशाली पन्ने जोड़ दिए हैं। बाद के दौर में हाड़ौती (कोटा–झालावाड़) के लोक कवि भेरूलाल काला बादल पर भी उन्होंने लिखा है।

नए दौर में लेखकों में जैनेन्द्र, श्यामाचरण दुबे, शिवमंगल सिंह सुमन, रांगेय राघव, अश्क दम्पती, यशपाल, देवीलाल सामर, आलम शाह खान, युगलकिशोर चतुर्वेदी, कवि चित्राकार रामगोपाल विजयवर्गीय, प्रकाश आतुर, भागीरथ भार्गव, कल्याणमल लोढ़ा और कमर मेवाड़ी पर उनके संस्मरण हैं। मोटे तौर पर ये दो तरह के हैं–कभी त्वरा में लेखक के महत्त्व का उद्घाटन करते औपचारिकता से भरे और कभी आत्मीय मुलाकातों का वर्णन करते अनौपचारिकता में डूबे। नन्द बाबू त्वरा में भी भाषा की रंजकता को जाने नहीं देते और थोड़े से इशारे में भी कोई–न–कोई खास बात कह जाते हैं। कमर मेवाड़ी पर लिखते हुए वे कहते हैं–'यह अकादमिक बहस का मुद्दा हो सकता है कि लेखक की सहृदयता और निष्कपटता का अच्छे–उत्कृष्ट असरदार साहित्य से कोई नाता–रिश्ता, सम्बन्ध है या नहीं? मनुष्य के चले जाने पर शब्द ही प्रमाण होंगे उसका मानवीय आचरण नहीं, तब भी हमारी साहित्य परम्परा में मनुष्यों के साथ कवि का पड़ोस, उसका सौजन्य, उसका अपने समय और समाज को बचाने के प्रयत्न–शब्द की अन्तर्ध्वनियाँ होंगे, यह अमिट विश्वास है।'

पुस्तक के अन्तिम खण्ड में विश्व हिंदी सम्मेलन (1999) के प्रसंग में की गई लन्दन यात्राा का वृत्तान्त और तीन–चार निजी संस्मरण हैं। 'माँ की गाँव' में नन्द बाबू ने अपने नाना के बहाने ब्राह्मण परिवारों की कथा लिखी है, जिसे पढ़ना स्मृति के मार्फत कठोर यथार्थ से रू–ब–रू होना है। दलित आत्मकथाओं जैसे दारूण दुःख और अपमान के समानान्तर इन तथाकथित सवर्ण परिवारों की पीड़ाएँ कम त्रासदायक नहीं हैं। गरीबी की मार, भांग पीकर गलियाते पुरुष, सूखते भुट्टे के बिस्तर पर चाँदनी रात काटती स्त्रियाँ, मन्दिरों का धुँआ, डाकू, मृत्यु के प्रसंग और फिर ऊँचे होने का दम्भ मिलकर भारतीय ग्राम जीवन को फिर फिर जानने समझने का नया मौका देते हैं। ये व्यतीत के चित्रा इसलिए भी दुर्लभ हैं कि इन्हें उधार के रंगों–कूंचियों से नहीं माँडा गया है। 'भागीरथ काका' अपनी प्रकृति में रेखाचित्रा के करीब संस्मरण है और एक बढ़िया कथा का आस्वाद देता है। भागीरथ काका की निश्छलता के साथ स्त्री शोषण का प्रसंग दग्ध करने वाला पाठकीय अनुभव है। कोई बड़ी क्रान्तिकारी औरतें नहीं है। जिन पर नन्द बाबू लिखते हैं–अपितु सामान्य जीवन

जीने की कोशिश करतीं, लाचार–गरीब और बार–बार ठगी जाती स्त्रियाँ हैं जो तब भी जीवन की आस छोड़ नहीं देतीं। नन्द बाबू सत्तर–अस्सी वर्ष पुराने समय और समाज से कुछ चरित्रा चुनकर लाते हैं और वस्तुपरकता– ठेठ वातावरण की निश्छलता से सर्वथा भिन्न अनुभव दे जाते हैं। 'सीएटी कैट, कैट माने बिल्ली' इसी शृंखला की एक कड़ी है। यहाँ भांग के शौकीन नाना का चित्रा अपने आवेग में काशी के 'बाहरी अलंग' की याद दिलाने वाला है। लेकिन इस संस्मरण में आया भैंस की आकस्मिक मृत्यु का वृत्तान्त पाठक को अवसाद में डाल जाता है। वस्तुतः नन्द बाबू ने संस्मरणों में जिन व्यक्ति–घटनाओं और स्थानों को चुना है वह चुनाव ही उनकी पक्षधरता को दिखाने वाला है। इन संस्मरणों में भाषा का जादुई संसार मिलता है लेकिन यह कोई वायवीय संसार नहीं अपितु लड़ते–संघर्ष करते मामूली लोगों के जीवन की ही दुनिया है।

महात्मा गांधी की हत्या पर लिखा संस्मरण 'इस अँधेरी रात में दीपक जलाए कौन बैठा है' इतिहास का एक कटु अध्याय फिर खोलता है। तब नन्द बाबू महाराष्ट्र के एक छोटे से कस्बे नसीराबाद के एक स्कूल के हेडमास्टर थे। गांधी हत्या के समाचार से उपजते तनाव और आतंक में वे साम्प्रदायिक विभाजन का बुनियादी कलुष देखते हैं। यहाँ गोलवलकर के एक व्याख्यान और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की बैठकों का विवरण साम्प्रदायिक विभाजन की कलुषता को भिन्न–भिन्न कोणों से परखने वाला है। इस संस्मरण से स्वयं नन्द बाबू के भी प्रतिरोधी और अनन्त व्यक्तित्व का चित्रा निकलता है जो खतरे उठाना जानता है।

इन दिनों संस्मरण के नाम पर निजी छवियों की निष्प्रभति या पिछला बाकी चुकाने की प्रवृत्ति में इन संस्मरणों का मूल्य गहरी सामाजिकता और वैचारिक प्रतिबद्धता है। फैशन से बाहर हो चुके आन्दोलनकामी विचार और कार्यकर्ताओं को चित्रित करती यह पुस्तक विधाई अन्तष्प्रक्रया का भी अनुपम मेल है। जहाँ इसे पढ़कर समाजवादी आन्दोलन की एक तस्वीर बनती है वहीं नन्द बाबू के अपने जीवन–रचना संघर्ष का ब्यौरा और साहित्यिक किलों से दूर राजस्थान के लेखन–लेखक संसार का चित्रा भी बहुरंगी छटा से भरा है। नन्द बाबू दरअसल उन बातों को नहीं करते जो बहुत जानी–पहचानी हैं। वे बाकी की बातें बताते हैं जिन्हें इतिहास भी नहीं जानता। जैसी उनकी काव्य पंक्तियाँ हैं–

इतिहास सिर्फ मौत बताता है
बाकी की बातें तो जिन्दगी को ही
तलाश करनी पड़ती हैं।

अतीत राग (संस्मरण), नन्द चतुर्वेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, मूल्य–250 रु.

---

403 बी–3, वैशाली अपार्टमेंट, से. 4 हिरण मगरी, उदयपुर–313002, मो. 9414732258

एक उपेक्षित भाषा का सन्तुलित विश्लेषण

सुभाष सेतिया

भाषा मनुष्य के लिए अभिव्यक्ति और संवाद का माध्यम होने के साथ–साथ हमारे सांस्कृतिक विकास का विश्वसनीय झरोखा भी है। किसी समुदाय या प्रदेश की भाषा की व्युत्पत्ति और क्रमिक विकास का इतिहास उस समुदाय अथवा प्रदेश के इतिहास को भी दर्शाता है। इसलिए भाषा का इतिहास समाजशास्त्रीय और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और रोचक रहा है।

प्राचीन देश होने के कारण भारत में भाषा विकास की लम्बी परम्परा रही है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक प्रो. राजमणि शर्मा ने अपभ्रंश के अध्ययन के बहाने भारत की समग्र भाषा परम्परा पर भी रोचक ढंग से प्रकाश डाला है। लेखक द्वारा अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्ययन का बीड़ा उठाना विशेष रूप से प्रशंसनीय प्रयास माना जा सकता है क्योंकि वैदिक संस्कृत या छांदस भाषा से लेकर आधुनिक भारतीय भाषाओं तक के भाषा–विमर्श में अपभ्रंश ही ऐसी भाषा रही है जो अपनी प्रकृति के साथ–साथ अपने नाम को लेकर भी उपेक्षित और असम्माननीय रही है। वास्तव में अपभ्रंश शब्द ही नकारात्मक है क्योंकि इसका अर्थ है विकृत या बिगड़ा हुआ। जहाँ संस्कृत नाम संस्कार को रूपायित करता है वहीं अपभ्रंश का सम्बन्ध विकार से माना जाता है। शायद यही कारण है कि लेखक ने जब अपभ्रंश के अध्ययन का निर्णय किया तो उनके गुरुओं और हितचिन्तकों ने उन्हें निरुत्साहित किया और किसी अन्य विषय पर शोध करने की सलाह दी। किन्तु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे प्रतिष्ठित विद्वान के अध्ययन का विषय रह चुकी भाषा अपभ्रंश के अध्ययन के प्रति लेखक की वचनबद्धता अक्षुण्ण रही।

14 अध्यायों में बँटी यह पुस्तक अपभ्रंश भाषा और साहित्य का व्यापक और गहन विश्लेषण व विवेचन प्रस्तुत करती है। अपभ्रंश शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ स्पष्ट करते हुए लेखक ने इसके समानार्थक प्रचलित शब्दों और रूपों की भी चर्चा की है। ईसा पूर्व दूसरी सदी से लेकर तेरहवीं सदी तक अस्तित्व में रही अपभ्रंश भाषा को अलग–अलग कालों में 'अपशब्द', 'विभाषा', 'लोकभाषा', 'शिष्ट' और 'साहित्यिक भाषा' जैसे नामों से पहचाना गया। लेखक ने अपभ्रंश की व्युत्पत्ति की प्रक्रिया के समर्थन में अनेक विद्वानों की मान्यताओं को उद्धृत करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि क्योंकि अपभ्रंश पाणिनी के नियमों की अवहेलना करती थी इसलिए मुख्यधारा के विद्वान् इसको सम्यक सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे। अपभ्रंश के लिए

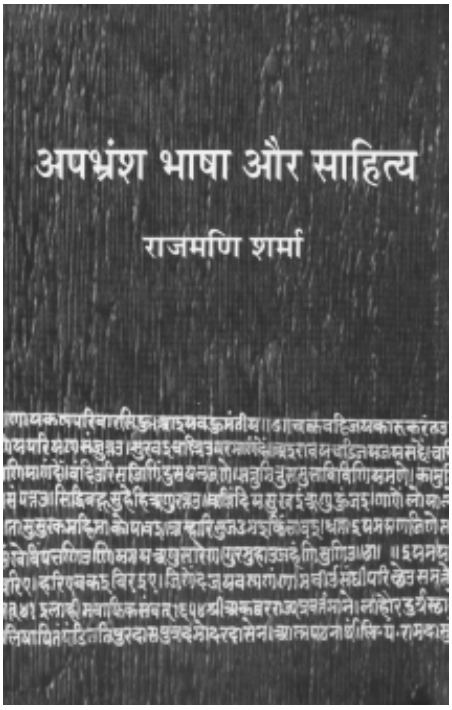

'अवहट', 'अवहट्ट', 'अवहंस', 'अवव्हंस' जैसे शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। जाहिर है बहुत गहन अध्ययन और मनन के बल पर लेखक इतनी महत्त्वपूर्ण जानकारी हम तक पहुँचाने में सफल हुआ है।

छांदस या वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत और उससे विकसित अपभ्रंश का महत्त्व इसलिए अधिक है क्योंकि इसी के विभिन्न रूपों में हिंदी तथा अन्य आधुनिक आर्य भाषाएँ अस्तित्व में आईं। लगभग 1500 साल तक प्रचलित रही इस भाषा के काल निर्णय, क्रमिक विकास, विभिन्न रूपों एवं भाषिक विशेषताओं के विस्तृत विवरण के अतिरिक्त अपभ्रंश के साहित्य की विशद जानकारी इस पुस्तक की मुख्य विशेषता है। अन्य भाषाओं की भाँति यह भी लोक एवं साहित्यिक रूपों से गुजरती हुई परिनिष्ठित अवस्था में आई और व्याकरण के बन्धनों में बँधकर रूढ़ स्थिति में पहुँची। मुख्यधारा के विद्वानों की दृष्टि में उपेक्षित रहने के कारण अपभ्रंश का साहित्य भी अपने समय में विशेष चखचत नहीं रहा। अपभ्रंश के अनेक ग्रन्थ कई शताब्दियों के बाद सामने आए। कुछ पुस्तकें तो पिछले 100–150 वर्षों में विदेशी पुस्तकालयों से प्राप्त हुई हैं। इस खोज में राहुल सांकृत्यायन की भूमिका उल्लेखनीय रही है। इतने बिखरे और विस्तृत साहित्य का विवरण प्राप्त करना और उसे व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करना सचमुच श्लाघनीय है।

अपभ्रंश मूलतः जैन साहित्य की भाषा रही है। यह साहित्य दो तरह का है। पहले वर्ग के साहित्य में जैन तीर्थंकरों के जीवन और धाखमक सिद्धान्तों का परिचय है तो दूसरे वर्ग में रामायण और महाभारत के प्रमुख चरित्रों पर आधारित जीवनियाँ तथा आख्यान

प्रधान साहित्य है। इन रचनाओं में आख्यानों में फेरबदल किया गया है जिसका उद्देश्य जैन सिद्धान्तों की व्याख्या करना है। जैन साहित्य के अलावा अपभ्रंश में नाथ और सिद्ध साहित्य, श्रृंगारपरक तथा वीररस परक कथाकाव्य, रासो साहित्य, विद्यापति की 'कीखतलता' व 'कीखतपताका' आदि का समावेश है। लेखक ने परवर्ती अपभ्रंश साहित्य तथा हिंदी के आदिकाल के साहित्य पर अपभ्रंश के प्रभाव का भी विश्लेषण किया है। लेखक ने इन साहित्यिक रूपों की चर्चा करते हुए उनके प्रमुख रचनाकारों और कृतियों की विस्तृत जानकारी भी दी है और तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी परिचय दिया है। पुस्तक के अन्त में आधुनिक हिंदी को अपभ्रंश के अवदान पर प्रकाश डाला गया है।

हिंदी की उत्स भाषा अपभ्रंश के समग्र रूप को समझने के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। आमतौर पर समीक्षा करते हुए किसी रचना के नकारात्मक पहलुओं की भी चर्चा अपेक्षित रहती है किन्तु मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि पुस्तक के निर्धारित विषय के विवेचन की दृष्टि से मुझे कोई भी त्रुटि या दोष दिखाई नहीं दिया। हिंदी के भाषा साहित्य की माला में एक और सुन्दर एवं सुगन्धमयी पुष्प के रूप में इस पुस्तक का स्वागत किया जाना चाहिए।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य/राजमणि शर्मा/भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली–110003, मूल्य : 160 रु.

सी–302, हिंद अपार्टमेंट्स, प्लाट नं. 12, सेक्टर–5, द्वारका, नई दिल्ली–110075 मो. 9910907662

पत्राकारिता

राजेन्द्र माथुर : बड़े पत्राकार के पद–चाप

प्रेमपाल शर्मा

हाल ही में करिश्माई पत्राकार प्रभाष जोशी के निधन पर यूँ ही कही गई एक बात बार–बार कुछ गहरा सोचने को उकसाती है कि आजाद भारत में तीनों बड़े हिंदी के पत्राकार इन्दौर, मालवा की देन हैं–राहुल बारपुते, राजेन्द्र माथुर और प्रभाष जोशी। तराजू–बांट अंटी में डाले सेमीनारों के आढ़तिये इस बात पर तुरन्त मोल–तौल और विवाद करने बैठ सकते हैं लेकिन यह सच से बहुत दूर नहीं हैं। गंगा घाटी के हिंदी प्रदेशों में दर्जनों अखबारों ने पचास वर्ष पूरे कर लिए हैं लेकिन किसी पत्राकार ने अपने निर्भीक लेखन, स्वतन्त्राचेतना, चाल–चलन से ऐसी ऊँचाइयाँ हासिल नहीं की। कई ऊँचाई पर पहुँचने से पहले संसद या साहित्यिक पुरस्कार भले पा गए हों, चौथे पाए को वह नहीं दे पाए जो उनसे अपेक्षित था।

राजेन्द्र माथुर के लेख संग्रह–'रामनाम से प्रजातन्त्रा तक' (तीन खण्ड) में सन् 1963–69 का कालखण्ड शामिल हैं। एक पत्राकार की कलम से यानी लगभग पचास साल पहले के भारत की उथल–पुथल पर 'नई दुनिया' अखबार में छपी बेबाक टिप्पणियाँ, लेख, इतिहास और राजनीति के अध्येता जानते हैं इस कालखण्ड का महत्त्व। सन् 1962 में नेहरू के शान्तिवादी सपनों की चीन द्वारा धुनाई, नेहरू का देहावसान, कांग्रेसी वंशवाद की शुरूआती आहटें, सत्ता हथियाने के लिए विपक्षी दलों के जमघटों का जुड़ाव–बिखराव, कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन, पाकिस्तान से सतत तनाव के चलते 1965 में बड़ा युद्ध, तो दशक खत्म होते ही 1971 में बांग्लादेश मुक्तिसंग्राम में भारत की भूमिका और इसी दशक के खत्म होते–होते देश की दबी–कुचली जमात की मुक्ति के लिए 1967 में 'नक्सलवादी विचारधारा' का विस्फोट। इसे इतिहास की नियति ही कहा जा सकता है कि ये सभी मुद्दे आज भी धुंधियाँ रहे हैं। मेरी पीढ़ी जो उस समय प्राइमरी कक्षाओं में थी, को इसीलिए इन खण्डों को पढ़ना और भी दिलचस्प लगता है कि राजेन्द्र माथुर जैसे मनीषी पत्राकार की राय उस समय क्या और कैसी थी!

1963 में लिखे और पहले खण्ड में संकलित पहले चारों लेख भारत–चीन युद्ध की रोशनी में है। इस युद्ध की कंपकंपी इतिहास से परिचित कुछ कम्युनिस्टों को छोड़कर आज भी ज्यादातर भारतीयों की रीढ़ में है। पूरी पृष्ठभूमि, घटनाक्रम, आरोह–अवरोह के विस्तृत वृतांत इन लेखों में हैं। और राजेन्द्र माथुर का तब की कम्युनिस्ट पाखटयों के प्रति दुराग्रह भी। 'इस बात से इनकार करना मुश्किल है कि कम्युनिस्टों की अक्ल बड़ी भोली और बालसुलभ होती है। अपने कल्पना–लोक में उन्होंने फरिश्ते और दैत्य बना रखे हैं और दुनिया की सारी विविधता और पेचीदगी को उन्होंने सरल फार्मूलों में बाँध रखा है। इसलिए

यूगोस्वाविया अगर रूस के आलिंगन से इनकार करता है, तो स्टालिन के अनुसार वह पूँजीवाद का गुलाम हो जाता है। अगर हंगरी में क्रान्ति होती है, तो उसे साम्राज्यवादियों के अलावा कोई भड़का नहीं सकता। अगर तिब्बत के लोग अपनी आजादी के लिए लड़ते हैं, तो यह भारत का षड्यन्त्रा होना चाहिए और उसके अन्तिम सूत्रा अवश्य अमेरिका के विदेश विभाग में होने चाहिए। अगर अलबानिया में स्टालिन जीवित है, तो रूस के अनुसार वह उग्र और प्रतिगामी है और चीन के अनुसार वह साम्यवाद का सच्चा भक्त है। साम्यवादी लोग दुनिया की हर असलियत पर अपने पूर्वाग्रह का लेबल लगाए बिना रह नहीं सकते। अगर अणु बम रूस का है तो वह शान्ति का अखूट झरना है और अगर वह अमेरिका का है, तो वह जंगखोरी का गख़हत षड्यन्त्रा है।' (पहला खण्ड–पृ. 36) क्या पचास वर्ष में भी कम–से–कम चीन और अमेरिका के मद्देनजर उनकी जड़ सोच में ज्यादा अन्तर आया है?

अगस्त, 1964 को लिखा अगला लम्बा लेख उस दौर के महानायक नेहरू पर है 'नेहरू : अवतार और आदमी'। नेहरू के प्रति राजेन्द्र माथुर का झुकाव स्पष्ट है लेकिन उसे अन्धभक्ति नहीं कहा जा सकता। वे लिखते हैं–'महात्मा गांधी, मोतीलाल नेहरू के साये में अपनी जिन्दगी के 59 वर्षों तक जवाहरलाल रहे और बुजुर्गों के साए में इतने वर्ष रहने से भी उनका व्यक्तित्व एक विशेष साँचे में ढला। इन बुजुर्गों से दरअसल जवाहरलाल नेहरू का एक अजीब–सा रिश्ता बन गया था, जिसमें श्रद्धा भी थी और मतभेद भी था, चिढ़ और खीझ भी थी और अनुशासन भी था, बगावत भी थी और आज्ञा पालन भी था। बार–बार उन्होंने कांग्रेस के ऊँचे पदों से इस्तीफा दिया, लेकिन बार–बार उन्होंने उसे वापस ले लिया। वर्षों तक वे गांधीजी से रस्सा तुड़ाकर अलग होने की कोशिश करते रहे, लेकिन अन्त तक गांधीजी का जादू उन्हें बाँधे रहा। जब जवाहरलाल के जीवन में मोतीलाल नहीं रहे, महात्मा गांधी नहीं रहे, यहाँ तक कि सरदार पटेल भी नहीं रहे, तब नेहरू को बड़ा अटपटा लगा होगा, क्योंकि तब जीवन में पहली बार उन्होंने पाया कि कांग्रेस और देश पर उनका एकछत्रा अधिकार है। अब वे कांग्रेस की एंटीथीसिस नहीं थे, थीसिस थे, लेकिन क्योंकि नेहरू को हमेशा एंटीथीसिस रहने की आदत थी, इसलिए अपने नए रोल को वे काफी सहज भाव से नहीं निभा सके, हमेशा उसमें परेशानी महसूस करते रहे। यह वजह है कि कांग्रेस में उनका द्वन्द्वहीन प्रभाव होने पर भी वे कांग्रेस को अपनी मर्जी के मुताबिक नहीं बदल सके और उससे हमेशा असन्तुष्ट रहे। (पहला खण्ड, पृ. 81–82)

राजेन्द्र माथुर का नेहरू के बारे में निष्कर्ष गौरतलब है कि 'नेहरू के विचार बेहद सुसंगत और निरन्तर थे, उनमें विचारों की दृढ़ता थी, लेकिन संकल्प की दृढ़ता नहीं थी। नेहरू के चरित्रा का यह पहलू तभी प्रकट हुआ, जब वे 1947 में प्रधानमन्त्राी बन गए। अपने सुसंगत विचारों को अमल में लाने का उनका संकल्प उतना दृढ़ और निरन्तर कभी नहीं रहा। केवल सत्य के बीज बिखेरते रहने से कभी क्रान्ति की फसल नहीं उगती। विचारों को कर्म में बदलवाने के लिए दरअसल अलग किस्म के संकल्प–यन्त्रा की जरूरत होती है। मसलन, महात्मा गांधी ने सत्य के बीज भी बिखेरे और उन्हें कर्म में रूपान्तरित भी किया।' (खण्ड–1, पृ. 82)

पाकिस्तान बनने, न बनने की जिम्मेदारी की तलाश में इस देश की एक बड़ी पार्टी खुद रास्ता भटक गई है। तीनों खण्डों में पाकिस्तान, विदेश नीति से जुड़े दर्जनों लेख हैं। प्रथम खण्ड में संकलित लेख 'अधूरा मन्त्रापाठ' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना मौजू लगता है–

प्रश्न : मिस्टर जिन्ना, आपकी कल्पना का पाकिस्तान कैसा है? क्या आप चाहते हैं कि हर जिले में, हर शहर में, हर गाँव में पाकिस्तान हो?

जिन्ना : हाँ, मैं यही चाहता हूँ।

प्रश्न : लेकिन मिस्टर जिन्ना यह तो बड़ी डरावनी कल्पना है।

जिन्ना : मैं हर जिले में, हर शहर में, हर गाँव में पाकिस्तान चाहता हूँ यह डरावनी कल्पना है? लेकिन इसके अलावा कोई चारा नहीं है?

सन् 1940 में जब मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान का प्रस्ताव पहली बार स्वीकार किया, तब उसके दिमाग में एक असम्भव स्वप्न था और हालाँकि सात साल बाद देश का बँटवारा हो गया, लेकिन जो सपना मोहम्मद अली जिन्ना के दिमाग में था, वह जमीन पर नहीं उतरा। (पृ. 237)

भारत–पाकिस्तान युद्ध पर पहले खण्ड में ही कम–से–कम बीस से ज्यादा लेख शामिल हैं। शायद ही उस दौर में किसी पत्राकार की कलम इस घटनाक्रम पर रुकी हो। कई लेखों की सीमाएँ विभाजन के इतिहास से गुजरते हुए अन्तरराष्ट्रीय क्षितिजों तक फैली हैं। जैसे राष्ट्रीयता : चुनावी तोहफा नहीं, लेख से पता चलता है कि पाकिस्तान युद्ध पर मुसलमान देश सउदी अरब, इजिप्ट, मलेशिया, लेबनान कहाँ खड़े थे। ऐसा नहीं है कि सभी लेख बड़े फलक के ही हों, कई बहुत सामयिक घटनाओं तक ही सीमित हैं, जैसे कांग्रेस के 62 वें अधिवेशन पर दुर्गापुर कांग्रेस, संयुक्त समतावादी पार्टी के दो अधिवेशन–भुवनेश्वर का नया तहसीलदार, जयपुर अधिवेशन, गणतन्त्रा सप्ताह आदि (प्रथम खण्ड)

कुछ समस्याएँ आजादी से लेकर आज तक हमारे लोकतन्त्रा की फाँस बनी हुई है बल्कि कुछ तो और विकराल हुई हैं। कश्मीर, बेराजगारी, बढ़ती हिंसा, भ्रष्टाचार के साथ–साथ भाषा और शिक्षा ऐसे मुद्दे हैं जिनसे कोई भी बुद्धिजीवी मुँह नहीं फेर सकता। पहले खण्ड में 1965 में मद्रास प्रान्त में हिंदी के खिलाफ भड़की हिंसा, आन्दोलन पर एक बहुत तल्ख लेख है–'भारत : अनदेखा आइसबर्ग'। माथुर साहब लिखते हैं–'मद्रास के भाषा दंगों के बाद अब हर आदमी उन आँखों का उपयोग कर रहा है जो खोपड़ी के पिछले हिस्से में लगी हैं। भाषा का तो एक बहाना है। कांग्रेस से जो उम्मीद थी उसके पूरा न होने पर यह मद्रास और आन्ध्र में दंगों के रूप में भड़की है। यह निराशा दक्षिण तक सीमित नहीं है, यह देशव्यापी है। (प्रथम खण्ड पृ. 112) भाषा के सन्दर्भ में राम मनोहर लोहिया को याद करते हुए राजेन्द्र माथुर लिखते हैं–'हिंदी के प्रति उनका सबसे बड़ा योगदान यह नहीं था कि उन्होंने अँग्रेजी में लिखे पत्थरों पर डामर पुतवा दिया। उनकी बड़ी सेवा यह थी कि उन्होंने हिंदी में सोचा, लिखा और बोला और बहुत अच्छी हिंदी में यह सब लिखा। शायद हिंदी में और किसी राजनीतिक ने इतना मौलिक चिन्तन नहीं किया होगा, जितना डॉ. लोहिया ने किया। हिंदी की उन्नति का एकमात्रा तरीका यह है कि जो यहाँ है, वह अपनी जगह पर काम

करते हुए अच्छी से अच्छी हिंदी लिखे।' (दूसरा खण्ड, पृ. 316)

खण्ड–दो में उस दौर के दिग्गज राजनेताओं पर लिखे लेख अपनी आलंकारिक भाषा के कारण साहित्यिक रेखाचित्रा बन गए हैं। जाकिर हुसैन, राम मनोहर लोहिया, कृष्ण मेनन, श्रीमती इन्दिरा गांधी आदि। 'तीन प्रधानमन्त्री' लेख की शुरूआत देखिए 'इन्दिरा गांधी भारत के राजनीतिक समुद्र की जलकन्या हैं। समुद्र अशान्त है और उसमें कई घड़ियाल हैं और मगरमच्छ घूम रहे हैं, लेकिन जलकन्या की अलग–अलग रंगीन आभा को वे प्रभावित नहीं कर पाते। तूफानी समुद्र में रहते हुए भी इन्दिरा गांधी ऐसी लगती हैं, जैसे वे किसी एक्वेरियम के प्रकाशित शो–केस में निस्पंद फिसल रही हों। शायद भारत का हरेक प्रधानमन्त्री इसी तरह दो दुविधाजनक स्तरों पर जीता है। वह समुद्र में रहता है, लेकिन जल जीवालय का सौम्य नागरिक प्रतीत होता है। वह हाड़–माँस का व्यक्ति होता है, लेकिन नेतृत्व का भव्य प्रतीक बन जाता है। (खण्ड–2, पृ. 112)

तीनों ही खण्डों में शायद ही उस दौर का कोई राष्ट्रीय–अन्तरराष्ट्रीय मुद्दा प्रसंग हो जिसे राजेन्द्र जी के चिन्तन में जगह न मिली हो। और एक ऐसी भाषा में जो पाठकों को पढ़ने के लिए उकसाती ही नहीं बल्कि वैसा लिखने को प्रेरित भी करती है। वैसे भी दृष्टि साफ हो, चिन्तन में फैलाव हो तो हर लेख एक दस्तावेज बन जाता है।

आजाद भारत के पिछले पचास साल के क्रियाकलापों, शासन व्यवस्था, उत्थान–पतन को लेकर कई शोधपरक पुस्तकें आई हैं। सुनील खिलनानी की 'भारतनामा', रामचन्द्र गुहा की 'गांधी के बाद का भारत' प्रभाष जोशी की 'हिंदू होने का अर्थ', आदि। ऐसी किताबों के बीच राजेन्द्र माथुर जैसे प्रखर पत्राकार के ये लेख इस तस्वीर को समझने में और सहायक होते हैं।

राम नाम से प्रजातन्त्रा तक (तीन खण्ड)/राजेन्द्र माथुर/सामयिक प्रकाशन, 3320–21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली–110002, रु. 1500/– (तीन खंड)

96, कला विहार अपार्टमेन्टस, मयूर विहार, फेज.I दिल्ली–110091 टेली. 011–22744596

संगीत

मेरे मेहदी हसन

राजेन्द्र उपाध्याय

प्रसिद्ध ग़ज़ल गायक मेहदी हसन यों तो पाकिस्तान में रहते हैं, लेकिन उनकी गायकी कोई सीमा नहीं जानती और वे भारत सहित इस पूरे उपमहाद्वीप में अपने फन के कारण लोकप्रिय हैं। उनकी ग़ज़लें पाकिस्तान सहित भारत में और अन्य एशियाई देशों में भी इतनी ही लोकप्रिय हैं। उनके जीवन पर अब तक किताबें नहीं लिखी गई थीं। लेकिन अब भारतीय विदेश सेवा के अधिकारी अखिलेश झा ने उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर एक दिलचस्प और सुसज्जित पुस्तक 'मेरे मेहदी हसन' नाम से लिखी है।

इस पुस्तक में अखिलेश झा ने लिखा है कि 'सुर की कोई सीमा नहीं होती। इस साधारण से कथन के असाधारण भाव की मिसाल है मेहदी हसन साहब।' मेहदी हसन की संगीत यात्राा का सहचर बनकर हम भारत–पाकिस्तान के विभाजन की त्रासदी के साथ–साथ संगीत, सिनेमा और रेडियो पर उसके प्रभाव को भी नजदीक से देखते हैं। मेहदी हसन की इस संगीत यात्राा मेंजगह–जगह संघर्ष की अनेक झलकियाँ हैं। उनके संगीत संस्कार में उनके पूर्वजों की परम्परा का गहन प्रभाव है। उनके परिवार में अनेक प्रसिद्ध गायक हुए। वे सदियों से राज्याश्रय में कलावंतों का सम्मान पाकर संगीत साधना करते थे। विभाजन के बाद मेहदी को अपनी आजीविका के लिए साइकिल मरम्मत की दुकान भी खोलनी पड़ी थी। उन्होंने इंजन का कारोबार भी किया था। फिर भी वे अपनी ग़ज़ल गायकी को जारी रखे रहे। ध्रुपद–धमार के उस्तादों की परम्परा से प्रेरणा लेते रहे। लेखक का यह कहना बिल्कुल सही है कि पहले ग़ज़ल साहित्य की एक विधा थी, उसे संगीत की विधा मेहदी हसन साहब ने बनाया। लेखक को उनसे मिलने के लिए पाकिस्तान जाने तथा और भी कई मुश्किलों का सामना करना पड़ा था, यह भी विस्तार से बताया गया है। मेहदी हसन साहब उन थोड़ी–सी शख्सियात की फेहरिस्त में हैं, जिन्होंने बंटवारे के बाद भी कला–संस्कृति को राजनीतिक सीमाओं से परे रखा। मेहदी हसन साहब इस लिहाज से हमारी सांझी विरासत हैं। इस महान गजल गायक को हिंदुस्तानी गायकों और जनता का भी भरपूर प्यार और सम्मान मिला है। लता मंगेशकर ने पहली बार मेहदी हसन को लंदन के एक कार्यक्रम में सुना था। वे उन्हें सुनकर भावुक होकर बोलीं–'गाना इसे कहते हैं।' मेहदी हसन को सरहद के इस पार भी संगीत की दुनिया में कम प्रतिष्ठा नहीं मिली। उनके अस्वस्थ होने पर भारतीय कलाकारों ने उनकी शुभेच्छा में संगीत–समारोह आयोजित किए। कुछ भारतीय कलाकार उनका हालचाल लेने पाकिस्तान तक गए। लेखक ने ठीक ही लिखा है कि 'राजनयिक, सैनिक, वाणिज्यिक आदि मसलों पर हमेशा एक–दूसरे की प्रतिस्पर्धा में खड़े इन दोनों देशों के बीच संगीत की हवा निर्बाध बहती रही है। इसे न कौमी नफरत

रोक पाई, न राजनयिक गतिरोध, न आतंकवाद, न अफवाह के बाजार और न फतवों के नासूर।'

मेहदी हसन इलाज के लिए जब–तब भारत आते रहे हैं और उनका यहाँ भव्य स्वागत हुआ है। भारत के राजनेताओं ने भी उनका पर्याप्त स्वागत किया है। लेखक ने पर्याप्त मेहनत के साथ और शोध करके मेहदी हसन की यह जीवनी लिखी है। मेहदी हसन मूलतः, राजस्थान में जयपुर के झुंझनू तहसील के लूना गाँव के रहने वाले हैं। यहाँ 1934 में उनका जन्म हुआ था। वे बचपन में पहलवानी भी सीखते रहे।

मल्लिका–ए–तरन्नुम नूरजहाँ ने एक बार मेहदी हसन साहब की खूबसूरत आवाज के बारे में कहा था–'मेहदी हसन साहब के बारे में कुछ कहना सूरज को चिराग दिखाना है, जो लोग सुर में होते हैं इस दुनिया में उनके बाप–दादाओं ने, उनकी नस्लों ने, पुरखों ने मोतीदान किए होते हैं, तो फिर इस दुनिया में सुर आता है। मेहदी हसन सुर में भीगकर गाते हैं। मुझे तो हैरत होती है कि कैसे कोई ऐसे गा सकता है। सौ–दो सौ साल तक तो कोई दूसरा मेहदी हसन पैदा नहीं हो सकता।'

ऑल इण्डिया रेडियो में विभाजन से पहले मेहदी हसन के कैरियर का भी लेखक ने दिलचस्प और विस्तार से वर्णन किया है। रेडियो कराची में वे 1952 में आए। उनको ऑडिशन के बाद ए ग्रेड दिया गया और फीस 35 रुपये तय की गई। वे रेडियो में तबला, सितार और वायलिन भी बजाते थे। ठुमरी दादरा आदि के तो वे उस्ताद थे। यह जानना कम दिलचस्प न होगा कि मेहदी हसन ने दो शादियां की थीं, जिनसे उनकी 14 सन्तानें हैं। जिनमें 9 बेटे और 5 बेटियाँ हैं।

अनेक दुर्लभ और आकर्षक चित्रों से सुसज्जित इस पुस्तक का हिंदी में पहली बार प्रकाशन निश्चय ही एक सुखद घटना है। रेमाधव आर्ट ने इसका बहुत सुन्दर प्रकाशन किया है। यह पुस्तक निश्चय ही संग्रहणीय है।

मेरे मेहदी हसन / अखिलेख झा / रेमाधव आर्ट प्रा. लिमिटेड, वी. 188, ईस्ट ऑफ कैलाश, नई दिल्ली–110065, मूल्य 400 रु.

62 बी, लॉ अपार्टमेंट, ए.जी.सी.आर. इन्क्लेव, दिल्ली–110092 मो. 9312147051

पढ़ने में देखने को सम्भव करती एक किताब

प्रकाश उदय

पढ़ाने–लिखाने में लगे प्राणी, खासकर महाविद्यालयों, विश्व–विद्यालयों के, आमतौर पर, पढ़ने–लिखने की क्षुद्रता से छूट जाते हैं। जो नहीं छूट पाते उनके बारे में अक्सर, किसी सावधानी के तहत, अलग से बता देने की प्रथा है कि ये पढ़ते–लिखते भी हैं। सत्यदेव त्रिपाठी के बारे में अलबत्ता, कुछ बढ़कर बताना पड़ सकता है। इनके पढ़ने–लिखने के साथ 'देखना' भी जुड़ा हुआ है। 'तीसरी आँख का सच' उनके इसी देखने से जुड़ी हुई किताब है।

हिंदी में, संस्कृत की कृपा से, नाटक की सैद्धान्तिक समीक्षा की कमी नहीं है। व्यावहारिक समीक्षा के रूप में, बेशक उसके अपने ही बूते, नाटकों की पाठाधारित समीक्षा भी भरपूर है। लेकिन इस द्विज विधा के दूसरे जन्म को लेकर टुकड़ों–टुकड़ों में, लेकिन इकट्ठे, इतनी बातचीत की कोई एक किताब, हिंदी में, शायद यही है, 'तीसरी आँख का सच'।

1988 से लेकर 2004 तक इप्टा, सुरनई, अर्पणा, मास्क, अंक, आविष्कार, रिएक्शन, संगीत कला केन्द्र, एकजुट, एकता, उदयन, विवेचना, मोटली, संवेदना, कलाश्रय, सहज, पैनोरमा, अंकुर, यात्री आदि अनेक रंग–समूहों की; पृथ्वी थियेटर, एनसीपीए, रंग शारदा, भारतीय विद्या भवन, नेहरू सेन्टर, बिड़ला मातुश्री सभागार, इस्कोन आदि अनेक मंचों पर; जसपाल संधू, व.ब.कारंत, के.के. रैना, सुनील शानबाग, दिनेश ठाकुर, सत्यदेव दुबे, विनोद रंगनाथ, गिरीश देसाई, उत्तम गाडा, उषा गांगुली, कमलाकर सोनटक्के आदि अनेक निर्देशकों–निर्देशित; हिंदी, मराठी, गुजराती, अँग्रेजी की अनेक नाट्य–प्रस्तुतियों की; उनमें शामिल अभिनेताओं, अभिनेत्रियों और ध्वनि, प्रकाश, मंचसज्जा से जुड़े तमाम रंगकर्मियों के अवदान की, खासियतों और खामियों सहित एकत्रा चर्चा से सम्पन्न यह पुस्तक रंगकर्म को लेकर शोधार्थियों के जितने काम की है उससे ज्यादा हिंदी में रंगकर्म के प्रति उदासीनता को लेकर बैठे–ठाले रोते रहने वालों को कुछ–कुछ सचमुच रुला देने वाली भी है। तब और अब इस 'तीसरी आँख का सच' के परिशिष्ट सहित तीनों खण्डों में से पहले में सैंकड़ों एकल नाट्य–प्रस्तुतियों के विस्तृत विवेचनापूर्ण विवरणों, दूसरे में विभिन्न नाट्य–महोत्सवों की अनेकानेक रंग–प्रस्तुतियों के बेधक साक्षात्कार और तीसरे में रंगकर्म के

वाख्षक लेखे–जोखे वाले लेखों से होकर, यानी क्रमशः त्वरित, अतित्वरित और थिर, थिराई टिप्पणियों से गुजरकर, बजरिए भूमिका, इस सच के रू–ब–रू होते हैं कि यह पूरी किताब रंग–प्रस्तुतियों पर लेखक के लिखे का महज एक बटा तीन है।

अपनी सिनेमाई चकाचौंध के लिए जानी जानेवाली मुम्बई की इस दूसरी दुनिया में, बड़ी बात है कि त्रिपाठी न तो व्यावसायिकता के लिहाज से किसी कमतर समाज में भटकने के अहसास के साथ हैं न ही कलात्मक प्रतिबद्धता के लिहाज से किसी ऊँची जमात में विचरने के गुमान के साथ। महज इसलिए कि मामला मंच का है, वे अपनी टिप्पणियों में कहीं रियासती नहीं दिखते, न ही महज इसलिए कि कोई स्टार स्क्रीन से चलकर स्टेज तक आया है, वे उसे बहुत भाव देते दिखते हैं।

रंगकर्म के अनेक अधुनातन प्रयोगों से हमारा आलोचनात्मक परिचय कराती हुई यह किताब अपने समीक्षा–व्यवहार में नाट्य–सिद्धान्त के कुछ नए सूत्रा भी सामने लाती है, उलझने–सुलझने के, बुझ–बिसराम के अनेक ठहर–ठाँव रचती है। जैसे, कथा–साहित्य की नाट्य–प्रस्तुतियों को लेकर त्रिपाठी की कई टिप्पणियाँ विधाओं की निजी पहचान, विभिन्न विधाओं के सहयोग–परस्पर और विधागत सीमाओं के अतिक्रमण पर बातचीत को नए सिरे से उत्तेजित करती है।

हद है कि हजारों रंग–प्रस्तुतियों को समेटतीं ये टिप्पणियाँ किसी फार्मूले में नहीं बँधतीं; रचनात्मक बनी रहती हैं। यह शायद प्रस्तुतियाँ ही तय करती हैं कि उन पर चर्चा कहाँ से, कैसे शुरू हो। कभी कथा के किसी कोण से, कभी मंच के किसी कोने से, कभी किसी संवाद, कभी किसी भाव–मुद्रा से, कभी–कभी तो साथ बैठे दर्शकों की अपेक्षाओं और प्रतिक्रियाओं से भी। कई बार तो जैसे टिप्पणियाँ खुद भी किसी नाट्य–प्रस्तुतियों का–सा रूप ले लेती हैं, जैसे, 'वो तुम ही हो' में मंच पर उतरे, मन में नहीं उतर पाए शेखर सुमन के एकल संवाद के रूप में, जिसे पढ़ते हुए सुनने का सुख उस दुख को भी धो देता है जिसे लेखक ने खुद देखते–सुनते हुए पाया होगा।

तीसरी आँख का सच (दो दशकों की प्रमुख रंग–समीक्षाओं का संकलन) / सत्यदेव त्रिपाठी / प्रकाशक लज्जा, दूसरी मंजिल, सुपर मार्केट, डॉ. राजेन्द्र मार्ग, बल्लभ विद्यानगर–388120 (गुजरात), मूल्य 450.00 रु.

श्री बलदेव पीजी कॉलेज, बड़गाँव, वाराणसी–221204
मो. 09415290286

निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिन्दा एक लाख पृष्ठ **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएँगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्वपूर्ण सामग्री का चयन, संपादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अन्तर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** में मगांअंहिवि द्वारा प्रकाशित सामग्री, यथा, संचयिता, छवि–संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएँ अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक **रीडरडॉटकॉम** (www.classicreader.com) और **गुटेनबर्गडॉटऑर्ग** (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं।

इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों–पाठकों–प्रकाशकों–संपादकों–प्राध्यापकों–शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री–संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएँ। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केन्द्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।

हिमालय के पड़ोसी नन्दा राजजात

अनुप्रथा

इतिहास का एक प्रमुख □ीत साहित्य भी होता है, चाहे यात्राा वृतांत हो या फिर सामाजिक–आर्थिक अध्ययन के लिए उपन्यास या कहानी। एक अच्छा इतिहासकार उपलब्ध साक्ष्यों से इतिहास के अतीत को या वर्तमान को अपनी बौद्धिक क्षमता, कल्पनाशीलता और विवेक से उठाता है। इस सम्बन्ध में यह दिलचस्प प्रसंग उल्लेखनीय है कि जब 'आधा गाँव' जैसे उपन्यास के लेखक राही मासूम रजा को भी 'महाभारत' की पटकथा और संवाद लिखने के लिए आमंत्रित किया गया तो उनके सामने एक बड़ी चुनौती इतिहास के एक लम्बे कालखंड के पाँच हजार वर्ष पूर्व के समय, समाज और संदर्भ को उठाना था जो दर्शकों के लिए बोधगम्य और सहज ग्राहय हो सके। राही ने खुद कहीं लिखा है कि पटकथा और संवाद लिखने के लिए जैसी भाषा की उन्हें जरुरत थी, उसकी तलाश करते कई रात उन्हें बेचैनी में उनींदी बितानी पड़ीं। इस प्रसंग को उन्होंने तत्कालीन 'धर्मयुग' के संपादक धर्मवीर भारती से अपने एक साक्षात्कार में स्पष्ट किया–जब महाभारत की पटकथा और संवाद लिखने का मुझे ऑफर मिला तो मुझे बेहद खुशी हुई, साथ ही भारी चिन्ता भी। रात–रात भर जगकर मैं एक ऐसी भाषा की तलाश कर रहा था जिसके सहारे पाँच हजार वर्ष पूर्व के समय को पूरी संवेदनशीलता के साथ उठा सकूँ।' यह प्रसंग इसलिए कि यदि यात्राा इतिहास बनाती है तो किसी साहित्यकार की मानसिक यात्राा से भी एक लम्बे कालखंड की दूरी तय की जा सकती है। कहना न होगा कि भारत का प्राचीन इतिहास, मुख्यतः विदेशियों द्वारा, चाहे वह मेगास्थनीज हो, फायहान या फिर हवेनसांग या भारत आने वाले विदेशी यात्राी हों, के यात्राा वृतांत पर आधारित है। यहाँ तक कि 'भारत की खोज' और अमेरिका की खोज भी वास्कोडिगामा और कोलम्बस ने समुद्री यात्राा करके की। इसलिए विश्व साहित्य ही नहीं बल्कि हिंदी में भी यात्राा साहित्य का विशेष महत्व है।

हिंदी में प्रचुर मात्राा में यदि यात्राा साहित्य उपलब्ध नहीं है तो इसलिए कि हिंदी लेखक साहसी नहीं होते अन्यथा हमारे सामने राहुल सांकृत्यायन, नागार्जुन और कृष्णनाथ जैसे दुःसाहसी लेखक हैं जिन्होंने हिमालय, तिब्बत और श्रीलंका की बार–बार यात्राएं की हैं। अभी हाल में हिंदी कवयित्राी गगन गिल की पुस्तक 'अवाक्' आई है जो उनकी मानसरोवर की यात्राा पर आधारित है।

कवि–कथाकार रमेश पोखरियाल 'निशंक' की नई पुस्तक 'नन्दा राजजात' आई है जिसमें हिमालय के उत्तुंग शिखर पर स्थित नन्दादेवी राजजात के मंदिर में 12 अथवा 12 से अधिक वर्षों के अंतराल में विश्व की एक अनूठी यात्राा आयोजित होती है। 280 किलोमीटर की यह पैदल यात्राा उत्तराखंड हिमालय में चमौली जनपद के नौटी गाँव से आरम्भ होती है, जो 19 पड़ावों से गुजरकर नन्दादेवी राजजात तक पहुँचती है। आस्था, रहस्य और रोमांच से भरपूर दुनिया की यह

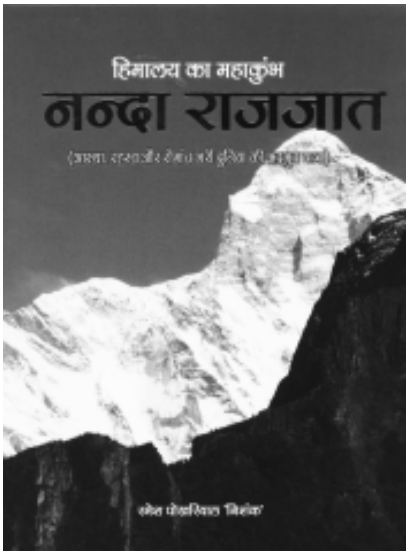

अद्भुत यात्राा किसी भी व्यक्ति के लिए विलक्षण अनुभव की तरह होती है क्योंकि इसमें श्रद्धा, साहसिकता, नैसर्गिक, सौन्दर्य, दर्शन अथवा पर्वतारोहण जैसी कई चीजें परस्पर घुली–मिली होती हैं। यही कारण है कि हर वर्ग, वर्ण, जाति, सम्प्रदाय के लोग इस यात्राा में शामिल होते हैं और जिन जगहों से गुजरते हैं, वहाँ के जन–जीवन, रीति–रिवाज, खान–पान, लोक–कला एवं लोक–संस्कृति को अपना हिस्सा बनाते हैं।

लेखक ने 19 पड़ावों में विभक्त अपनी लम्बी यात्राा का बेहद रोमांचक वर्णन किया है। पुस्तक के आरम्भ में प्रो. पुरोहित और डा. नैथाड़ी ने नन्दा देवी के इतिहास से हमारा परिचय कराया है। चूंकि यह पुस्तक भारी–भरकम नयनाभिराम और बहुत अच्छे गेटअप, प्रोडक्शन और प्रस्तुति में है इसलिए भी लेखक को बहुत सारे लोगों के प्रति आभार प्रकट करना पड़ा है। 'अपनी बात' में लेखक ने नन्दा देवी के बारे में लिखा है, 'भगवती नन्दा को मायके (मध्य हिमालय) से ससुराल (उच्च हिमालय) भेजने की यह विशिष्ट यात्राा 'नन्दादेवी राजजात' के रूप में आयोजित की जाती है जो आस्था, रहस्य और रोमांच भरी दुनिया की अद्भुत यात्राा है।' लेकिन लेखक ने इस रोमांच यात्राा में हिमालयी लोककला, संस्कृति, सरोकार, संस्कार और परम्पराओं से भी हमारा परिचय कराया है, जो इस यात्राा को और अधिक महत्वपूर्ण बना देता है। 'क्या है नन्दा राजजात' शीर्षक अध्याय में लेखक नन्दा का शिव से कैसे विवाह हुआ है, इसकी रोचक जानकारी पौराणिक मान्यताओं और जनश्रुतियों के आधार पर देता है, 'हिमालय पुत्राी होने के कारण मध्य हिमालय के विस्तृत भू–भाग को भगवती का मायका माना जाता है, जबकि उच्च हिमालय में अवस्थित शिव के निवास स्थान 'कैलाश' को नन्दा का ससुराल माना जाता है। अतः मायके से बेटी के रूप में नन्दा के उसके ससुराल 'शिवधाम' को

विदा करने की विशिष्ट परम्परा ही नन्दा राजजात है।'

जनश्रुतियों के अनुसार राजजात यात्राा की शुरूआत 9वीं शताब्दी में राजा कनकपाल के राज्यकाल में हुई। यद्यपि राजजात का आयोजन प्रत्येक 12 वर्षों के पश्चात होना माना जाता रहा है लेकिन यह यात्राा अनेक अप्रिय घटनाओं के कारण बाधित भी होती रही। अंग्रेजी शासनकाल में सन् 1843, 1863, 1886, 1905 और 1925 में राजजात यात्राा आयोजित किये जाने के प्रमाण मिलते हैं। फिर आजादी के बाद 1951, 1968, 1987 और 2000 ई. में इस यात्राा का आयोजन किया गया। पुनः आगामी 2012 के आस–पास इस राजजात यात्राा आयोजित किये जाने की सम्भावना है। लोकगीतों और लोक–कथाओं में भी नन्दा राजजात के प्रामाणिक □ात उपलब्ध हैं।

निशंक जी ने इस पुस्तक में राजजात के विभिन्न 19 पड़ावों के रहस्यमय और रोमांचकारी स्थलों से हमारा परिचय कराया है। यह यात्राा नौटी गाँव से आरम्भ होकर नन्दा के मायके का अंतिम पड़ाव भगोती पहुँचती है जो यात्राा का छठा पड़ाव है। फिर शुरु होता है ससुराल क्षेत्रा का कुलसारी पड़ाव, वहाँ से देवराड़ा, नन्दकेसरी, फल्दिया, मुंदोली आदि दुर्गम और कठिन रास्तों से गुजरते सुतोल पहुँचती है और सभी पड़ावों को पार कर वापस नौटी पहुँचती है।

इस यात्राा में न केवल प्राकृतिक अद्भुत, अप्रतिम सुन्दरता की अनुभूति होती है बल्कि प्रकृति के विस्मयकारी सौन्दर्य और सांस्कृतिक विरासत से रु–ब–रु होते यात्रियों के साथ पाठकों की थकान भी दूर हो जाती है। पुस्तक में अनेक भव्य और आकर्षक फोटो हैं, पुस्तक की छपाई और सुसज्जित सामग्री भी विशिष्ट है, जिसको संजोने की किसी भी पाठक की इच्छा हो सकती है, ऐसा मेरा विश्वास है। सबसे बड़ी बात है लेखक निशंक का यात्राा–विवरण, जो लोक–रंगों और विविध इंद्रधनुषी अनुभवों से भरा–पूरा है।

हिमालय का महाकुंभ : नंदा राजपत / स्मेश पोखरियाल 'निशंक' / विनसर पब्लिशिंग कंपनी / 8, प्रथम तल, के.सी. सिटी सेंटर, 4, डिस्पेंसरी रोड, देहरादून (उत्तराखण्ड)–248001, मूल्य : 1250.00 रु.

क्षेत्रीय विस्तार केन्द्र, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, ई–47 / 7, ओखला औद्योगिक क्षेत्रा, फेज–II, नई दिल्ली–110020

ने प थ य

जानने और न जानने के बीच का खालीपन

उदयशंकर

(डॉ. सुरेन्द्र चौधरी (1933–2001) हमारे समय के बेहद पढ़ाकू आलोचक थे। उन्होंने पढ़ा तो बहुत था। लेकिन लिखा बहुत कम और छपा और भी कम। उनके जीवन में उनका शोध प्रबन्ध नहीं छपा। बेशक, उनकी दो कृतियाँ–कहानी : पाठ और प्रक्रिया (1963) और रेणु पर मोनोग्राफ छपे। वैसे समकालीन पत्रा–पत्रिकाओं में वे निरन्तर लिखते रहते थे। युवा समीक्षक उदय शंकर ने जे.एन.यू. से एम.फिल. के अपने शोध 'सुरेन्द्र चौधरी की आलोचना दृष्टि' के दौरान उनकी बिखरी रचनाओं को तीन खण्डों में संकलित और संपादित करके डॉ. चौधरी को समकालीन आलोचना के परिदृश्य पर रखा है। यह आलेख उनके शोधप्रबन्ध के अनुभव का ही हिस्सा है। कहना चाहिए पृष्ठभूमि। **□संपादक)**

वह पिछली सदी का आखिरी वसंत था, जब मैं डॉ. सुरेन्द्र चौधरी से मिला। इस मुलाकात को सम्भव बनाने में गया के कवि, साहित्यिक कार्यकर्ता और गया जिला प्रलेस के सचित्रा श्री कृष्ण कुमार जी की अप्रतिम भूमिका थी।

102, तेलबिघा गया। यही डॉ. चौधरी का पता था। जिस मुख्य सड़क से एक गली इस पते की ओर जाती थी, उसके एक तरफ आर.एस.एस. के बिहार प्रभारी बऊआ जी की भीमकाय हवेली थी, जिसके शीर्ष पर मुँह फाड़े दो शेर थे और दूसरी तरफ था, मोनालिसा ब्यूटी पार्लर। इन दो अतिरेकों वाली मुख्य सड़क धूल–धक्कड़, चिल्ल–पों से भरी रहती थी। लेकिन इसी मुख्य सड़क में मिलने वाली या इससे निकलने वाली वह गली जो 102 की तरफ जाती थी, काफी शान्त और ग्रामीण स्पर्श का एहसास दिलाती थी। उनका घर भी ग्रामीण स्थापत्य का ही उदाहरण था। इसे उनके पिताजी ने बनवाया था। घर के आँगन से ही एक खड़ी सीढ़ी ऊपर छत की तरफ जाती है, जहाँ एक कमरा है और बाकी खुली छत। यहाँ अमरूद की पत्तियाँ थोड़ी छाया भी देती थीं। करीने से सजी किताबों के अम्बार वाला यही कमरा डॉ. चौधरी का अध्ययन, लेखन और शयन–कक्ष था। मैंने इतनी बड़ी निजी और समृद्ध लाइब्रेरी अभी तक नहीं देखी है।

वे अपने कमरे से उतरकर नीचे के कमरे में मिलने आए थे। बहुत सारी बातें हुई थीं, जो मेरे दायरे से बाहर की थीं। फिर बहुत सारी कविताएँ हम लोगों ने सुनाईं। बहुत ही सदाशयता से उन्होंने वे सारी कविताएँ सुनीं।

राजकमल चौधरी से उनका याराना, दोनों का दारू की भट्टियों पर जाना और गया की गलियों का चक्कर लगाना भी सुना। राहुल सांकृत्यायन पर हो रहे किसी कार्यक्रम की भरी सभा में एक 'वीर–शृंगार रसिक, कुपढ़' प्रोफेसर को डाँटना, और डाँटना इस बात पर कि वह कुछ–से–कुछ कूड़ा–करकट

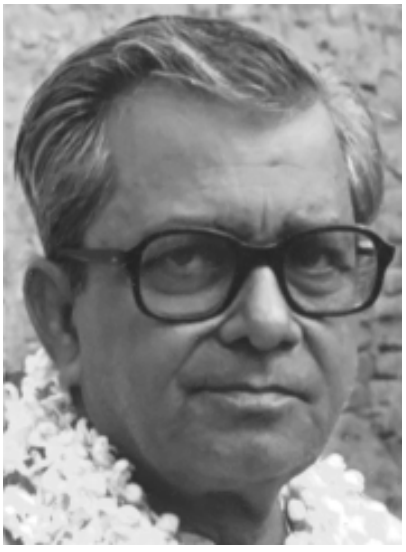

यह कहकर पढ़े जा रहा था कि राहुल जी ने अपनी किताब 'दुनिया को बदलो नहीं भागो' में लिखा है। यह भी सुना–पढ़ा कि कैसे एक 'बड़े आलोचक' ने इसको प्रोफेसर बनने लायक नहीं समझा और एक वीर–श्रृंगार रसिक 'कुपढ़' के चयन का मार्ग प्रशस्त किया।

संयुक्त मोर्चे संबंधी उनकी प्रस्तावनाओं को पढ़ने से पहले ही हम लोग जानते थे कि हिंदुस्तान में पहली बार प्रलेस, जलेस और जसम के संयुक्त तत्वावधान में तीन दिनों का कार्यक्रम सुरेन्द्र चौधरी के दिशा–निर्देशन में दिसम्बर 1997 में गया में ही सम्पन्न हुआ था। इसमें तीनों संगठनों के राष्ट्रीय चेहरों ने शिरकत की थी, जिसमें रमेश उपाध्याय, गौतम सान्याल, संजीव और रामजी राय का नाम स्मरण हो रहा है। एक व्यापक सांस्कृतिक–वैचारिक जरूरत के लिए संयुक्त मोर्चे की प्रस्तावना और उस पर हुए अमल को हिंदी के साहित्यिक समाज ने नोटिस नहीं लिया। डॉ. नामवर सिंह के पचहत्तर साल के होने के उपलख्य में पूरे भारत में हो रहे 'नामवर के निमित्त' कार्यक्रम की कड़ी में पटना में हुए जलसे में मैं भी भागीदार था। यहाँ एक बात जोर–शोर से कही जा रही थी कि यह ऐतिहासिक क्षण है, जब पहली बार वामपंथी धड़ों के तीनों लेखक संगठन एक साथ एक आयोजन में संलग्न हैं। यह मेरा दुर्भाग्य ही था कि उनके बारे में प्रचलित अफवाहों–किंवदंतियों और उनकी दिनचर्या का मैं साक्षी नहीं बन सका। जब मैं उनके सम्पर्क में आया तो वे उच्च रक्त–चाप और मधुमेह के शिकार हो चुके थे। शराब और सिगरेट छूट गई थी, साथ–ही–साथ पढ़ना–लिखना भी स्थगित हो चुका था। लेकिन डॉक्टर की लाख सलाह के बावजूद सोचना और गोष्ठियों में जाना–बोलना न छूटा था। यही वह दौर था जब हिंदी के कई एक दिग्गज एक–एक कर हमसे विदा ले रहे थे। नागार्जुन बीमार चल रहे थे और इसी स्थिति में उनके गाँव तरउनी में एक राष्ट्रीय कार्यक्रम आयोजित था। खुद की परवाह न करते हुए डॉ. चौधरी तरउनी गए और वहाँ जाकर बीमार पड़े। वहाँ से लौटे कुछ ही दिन हुए थे कि बाबा चल बसे। नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल का जाना उन्होंने किसी तरह झेल लिया लेकिन डॉ. रामविलास शर्मा का जाना उनसे झेला नहीं जा रहा था। उन्हें इतना असहज मैंने कभी नहीं देखा। स्मृति साथ नहीं देती थी, बिना सहारे के उठना–बैठना सम्भव नहीं था। लेकिन इस स्थिति में भी उनका गोष्ठियों में जाना बन्द नहीं हुआ। सहारे के लिए युवा कवि सत्येन्द्र कुमार का कन्धा तलाशते थे। डॉक्टर के बार–बार कहने के बावजूद सोचना, उस पर तत्काल रियेक्ट करना और आपे से बाहर हो जाना उन्होंने बन्द नहीं किया। अन्ततः इस तनाव ने ही उन्हें स्वस्थ होने नहीं दिया और वही हुआ जो डॉक्टर की आशंका थी।

इतना कुछ जानने, सुनने और देखने के बावजूद मुझे हमेशा एक खालीपान सताता रहा था। मैं उनके नैतिक उद्दाम के प्रतिफलन या स्रोत को चिह्नित कर पाने में नाकाम था। एक ही किताब मेरे समक्ष थी और वह भी समझ से परे–'हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ।' इसका कारण निस्सन्देह उनकी भाषा और विचारों की जटिलता थी जो इंटरमीडिएट और बी.ए. प्रथम वर्ष के छात्रा के वश की बात नहीं थी। लेकिन इससे बड़ा कारण गया की साहित्यिक गोष्ठियों या उपर्युक्त गॉसिप की अपनी बौद्धिक सीमाएँ भी थीं। इस खालीपन को बढ़ाने में उस गॉसिप की भी कम भूमिका नहीं थी जो डॉ. चौधरी के व्यवहार की नकारात्मक छवियाँ गढ़ती थी, मसलन वे व्यावहारिक नहीं हैं, मुँह पर बोल देते हैं। शराब पीकर कहीं भी लुढ़क जाते हैं, अंगवस्त्रा तक का ख्याल नहीं रहता है। दूसरी जो उनकी प्रशंसा में कही जाती थी कि उन्होंने जिन्दगी भर कुछ नहीं किया, खूब दारू पी और खूब पढ़ाई की।

जे.एन.यू. आने से पहले जो किताब हमें अपठनीय लगती थी, वही मेरी पसंदीदा पुस्तक हो गई। 'हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ' को मैं हिंदी कहानी के विकास, रचना–प्रक्रिया, पाठ–प्रक्रिया आदि को विधिवत तरीके से समझने–समझाने के लिहाज से अकेली पुस्तक मानता हूँ। नामवर सिंह को आलोचना की उन प्रवृत्तियों से शिकायत थी जिसने समझने–समझाने के लिहाज से कहानी को एक कमतर विधा बनाकर रख छोड़ा था। डॉ. सुरेन्द्र चौधरी की यह अन्यतम कृति मानो इस शिकायत की क्षतिपूख्रत है। हिंदी आलोचना की यह पहली पुस्तक है जो कहानी को उसके छह यान्त्रिाक अवयवों में बाँटकर देखने के बजाय उसके स्थापत्य के रूप, रचना–प्रक्रिया, कथा–विधाएँ, दृष्टि–बिन्दु और पाठ–प्रक्रिया को केन्द्र में रखकर चलती है। हिंदी आलोचना ने, विधिवत तरीके से पढ़ने–पढ़ाने के सन्दर्भ में हिंदी कहानी को 'नई कहानी' में समाहित या यहाँ से प्रस्तावित कर लेने की एक अजीब नासमझी पाल रखी है। इस पुस्तक का पुनर्पाठ इस नासमझी से बचाने में हमारी मददगार साबित होता है। ध्यातत्व हो कि नामवर सिंह की किताब 'कहानी : नई कहानी' का अन्तिम लेख 1965 ई. का है और 'हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ' 1963 ई. का। नई कहानी आन्दोलन का दौर सुरेन्द्र चौधरी के लेखन के आगाज का दौर है। जब मैं संकलन–संपादन की प्रक्रिया से गुजर रहा था और हिंदी कहानी के फिर से 'केन्द्रीय विधा' बनने का डंका पीटा जा रहा था, तब मैं अक्सर उपर्युक्त पंक्तियों को, आधुनिक भावबोध से पहले 'उत्तर' लगाकर गुनगुनाता था।

जे.एन.यू. में ही हमने डॉ. सुरेन्द्र चौधरी लिखित और साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित फणीश्वरनाथ रेणु के मोनोग्राफ को फिर से पढ़ा। और लगा कि इसे मोनोग्राफ की श्रेणी में पढ़ने की आदत ने रेणु सम्बन्धी डॉ. चौधरी की आलोचना को नजरअन्दाज किया है। यह पुस्तक भी हिंदी आलोचना की अकेली पुस्तक है जो रेणु का सम्यक मूल्यांकन करती है बल्कि उन तमाम दृष्टिकोणों से भी टकराती है जो रेणु के सामाजिक यथार्थ का अवमूल्यन करती है। डॉ. चौधरी लिखते हैं–''यथार्थवाद कोई देशी, क्षेत्रीय तत्त्व नहीं है, वह एक ऐतिहासिक तत्त्व है और विश्व इतिहास का अंग है...विकसित होती हुई ग्रामीण वास्तविकता की सम्भावनाएँ अभी तीसरी दुनिया की वास्तविकता को निर्धारित करने वाले तत्त्वों में गिनी जाएगी...व्यवस्था के अन्तख्रवरोध जिस तेजी से बढ़ते हैं उससे ज्यादा तेजी से जनता के बीच के अन्तख्रवरोध बढ़ते हैं। नाटकीयता का एक स्रोत हमारे इस सामाजिक आधार में है...यह नाटकीयता इतिहास की शक्तियों की टकराहट से बनती है। वह अतीत की निरन्तरता और वर्तमान अन्तख्रवरोधों के सन्दर्भ में नाटकीय बनती है। यह इतिहास के भीतर एक तीसरी दुनिया के जन्म की नाटकीयता है...यह तीसरी दुनिया एक विश्व–क्रान्तिकारी प्रक्रिया से जुड़कर और भी नाटकीय हो जाती है–वह व्यापक मानवता की मुक्ति का नाटक प्रस्तुत करती है...'मैला आँचल' इस दृष्टि से नए देश में खेला जाने वाला एक ऐसा नाटक है जिसमें मानव मुक्ति की सम्भावना है। आजादी की मुहिम पर वह भारतीय जन–गण के जीवन का नाटक है, जिसमें तमाम विद्रूपों और असंगतियों के

बावजूद धड़कते हुए जीवन का दबाव है।'' ('फणीश्वरनाथ रेणु', पृ. 68–71)

परम्परा की तारतम्यता से छिटक जाने का दम भरने वाली 'नई कहानी आन्दोलन' के दौर से ही सुरेन्द्र चौधरी इतिहास सम्बन्धी अपनी मान्यताओं को धार दे रहे थे। वे इतिहास को संयोग मानने वाली दृष्टि की आलोचना करते हुए इतिहास की सार्थकता पर जोर देते हैं। 'इतिहासबोध' के रचनात्मक प्रतिफलन को हमेशा केन्द्र में रखा और 'प्रतिफलन' की प्रकृति को परिभाषित करने की कोशिश की। 'समसामयिकता' और 'तात्कालिकता बोध' की आलोचना इसी केन्द्र के कारण सम्भव हुई। डॉ. चौधरी की आलोचना में इतिहास एक तरह से बीज शब्द है। डॉ. चौधरी सार्त्रा और अस्तित्ववाद के आधिकारिक अध्येता रहे हैं। अस्तित्ववाद से बहुत सारी सहमतियों के बावजूद वे सार्त्रा से अपने को जहाँ अलग करते हैं वह इसी इतिहास बोध के कारण सम्भव हुआ है। उनका मानना है कि 'इतिहास के बाहर किसी 'सार' की कल्पना मार्क्सवादी नहीं करता। स्वतन्त्राता की भी नहीं।' इसलिए सुरेन्द्र चौधरी अस्तित्ववाद को 'सेल्फ की हाइपर ट्रॉफी' मानते हुए कहते हैं कि उसकी स्वतन्त्राता की समझ एक ''अमूर्त निर्णय है और उसका सम्पूर्ण दर्शन एक वैयक्तिक व्यामोह के अलावा और कुछ नहीं।''

सुरेन्द्र चौधरी ने अपनी पी–एच.डी. दोबारा लिखी। पहली बार जहाँ लिखी वहीं छोड़कर गया आ गए और देखने तक नहीं गए। दूसरी बार गया में ही रहकर उन्होंने पी–एच.डी. लिखी लेकिन प्रकाशित नहीं हुई। इसी तरह कई एक पाण्डुलिपि, हस्तलिपि, लेख आदि पड़े रहे, पड़े होंगे। ऐसे दौर में जब ऐसी सूचनाएँ भी मिल रही हैं कि नामी–गिरामी आलोचक तक नवागंतुकों, संघर्षरत युवा शोधाख्थयों के द्वारा किए एक संकलन–संपादन को, उनकी मेहनत को अपने नाम पर संयोजित संपादित–प्रकाशित कर ले रहे हैं। लेकिन, डॉ. चौधरी ने अपना भी संयोजित नहीं किया। विचारों को संयोजित करने की जद्दोजहद ने कागजों को समेटने का मौका ही नहीं दिया। इनके लिए 'आलोचना एक प्रकार का रचनात्मक विवेक था।' इसी रचनात्मक विवेक ने उन्हें व्यावहारिक होने नहीं दिया, उनके निजी जीवन में व्याप्त फक्कड़पन और कुछ नहीं तो यही दर्शाता है। उन्होंने लिखा है–''जीवन–मूल्यों के बीच कहीं गहरी और निर्णायक टकराहट है। पूरे समकालीन भारतीय जीवन और विचारों–विश्वासों में उसकी व्याप्ति देखी जा सकती है। ऐसी स्थिति में अपने ही लिखे पर विश्वास जमाना चाहता हूँ। मैं अपने ही लिखे पर अमल करता रहा हूँ। इसलिए भी आत्म–विश्वास बढ़ा।'' डॉ. चौधरी का कवि रूप तो और भी अनजाना है, अतः उन्हीं के शब्दों में इति चाहूँगा।

समय की नदी, दिशाओं में–/हमारा दर्द, हमारी बाँहों में।/और, हम सभी गुम–सुम;/हम, यानी अनागत के सन्दर्भ में/जीने वाले लोग!/हम, यानी अपनी विवशताओं का/ ताबूत, अपने कन्धों पर डाले हुए लोग!/हम किसे क्या दें–/मुट्ठियों में दर्द बाँधे, हम खड़े हैं/कोई तो आए–/चटखाएँ उँगलियाँ/ताकि वह जड़ता/यह दर्द–/कमबख्त बह जाए।

151, पेरियार छात्रावास, जे.एन.यू., नई दिल्ली–110067, मो. 9868645701

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

छवि – संग्रह

यों तो किसी भी लेखक की सबसे जीवंत उपस्थिति उसकी रचना में होती है पर जैसे हम एक रचना पढ़कर दूसरी रचना खोजते या एक पुस्तक से गुज़रकर दूसरी के लिए उत्सुक अधीर होते हैं वैसे ही हमें इच्छा होती है यह जानने की कि वह लेखक कैसा दीखता है उसका पासपड़ोस कैसा है, वह किनकी सोहबत में रहता आया है, आदि। छवि–संग्रह के माध्यम से हमारा यत्न समकालीन मूर्धन्य लेखकों पर ऐसी सामग्री एकत्रा और विन्यस्त करना है तो एकबारगी हमें लेखक के समूचे कृतित्व, उस पर विभिन्न अभिमतों, उसके लिखे, चुने हुए अंशों, उसके अनुवादों, मित्राों, यात्राओं, पड़ोस आदि से अवगत करा दे। यह लेखक को उसकी कृतियों, उसके परिवेश और उसके ठोस संदर्भ में जीवित उपस्थिति के रूप में साक्षात् करने की कोशिश है। यह एक सीरीज है जिसमें, हमें उम्मीद है, हम अनेक मूर्धन्य लेखकों को एक–एक कर उपस्थित कर सकेंगे।

अभी तक प्रकाशित छवि–संग्रह :

निर्मल वर्मा, कुँवर नारायण, कृष्णा सोबती, विष्णु प्रभाकर, भीष्म साहनी, नेमिचंद्र जैन, मनोहर श्याम जोशी और नामवर सिंह

आचार्य द्विवेदीजी तथा सरस्वती

श्रीयुत पं. केदारनाथ जी पाठक

(भारतेन्दु जी के अस्त से सन् 1916 तक के हिंदी–साहित्य–जगत् का यदि स्ती–स्ती ब्यौरा जानना हो, तो अब भी इस लेख के वयोवृद्ध लेखक पं. केदारनाथ पाठक जीते हैं। उनके हृदय में अपार संस्मरण छिपे हुए हैं। आधुनिक साहित्यिक उनका उपयोग करें; अन्यथा यह खजाना सदा के लिये उनके हाथ से निकल जाएगा। प्र.)

सन् 1892 में एक कहार का लड़का, कहीं से द्विवेदी–जी–रचित 'देवीस्तुति शतक' नामक छोटी–सी पद्य–पुस्तिका चुराके लाया। उसे दो पैसे में उसने मेरे हाथ बेचा। उसे पढ़कर द्विवेदीजी की ओर से मेरा श्रद्धा–पूर्ण झुकाव हुआ। उससे द्विवेदीजी महाराज के विचार का आभास मिला, कि उस समय वे देवी उपासक थे। परम्परागत वैष्णव सन्तान होने के कारण, शाक्तमत पर मेरी श्रद्धा न थी; पर उक्त कविता–पुस्तक–क्लिष्ट होने पर भी–मेरे हृदय में काम कर गई। तब से मैं उक्त महानुभाव–रचित, अन्य कविताएँ प्राप्त करने के उद्योग में लगा रहा।

सन् 1896 में काशी नागरी–प्रचारिणी सभा की ओर से, एक प्रार्थना–पत्रा, पश्मिोत्तर प्रदेश (वर्तमान संयुक्त प्रान्त) की सरकार के पास, इस आशय का भेजने के लिए कि–'हम लोग सरकार से दफ्तरों में देवनागरी जारी करने की प्रार्थना करते हैं–'एक डेपुटेशन, प्रजा का हस्ताक्षर कराने के लिऐ 2 वर्ष तक, इस प्रान्त भर में पर्यटन करता रहा। इसी सिलसिले मैं भी, उसके साथ कानपुर पहुँचा। और, हिंदी के अनन्य भक्त और पुराने साहित्य–सेवक, मर्चन्ट प्रेस के मालिक बाबू सीतारामजी के यहाँ रेलगंज में ठहरा।

बा. सीतारामजी का यहाँ कुछ पंक्तियों में परिचय देना अनुचित न होगा। आप उन पुराने हिंदी–सेवकों में हैं–जिन्होंने 'भारतोदय' नामक दैनिक हिंदी–पत्रा को, सन् 1885 में निकालकर हिंदी में दैनिक–पत्रा का अभाव दूर किया था। यह बात उस समय की है, जब स्व. बाबू राधाकृष्ण दासजी, स्व. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के स्मारक स्वरूप, एक दैनिक–पत्रा निकालने के प्रयत्न में लगे थे; किन्तु, उन्हें सफलता न हुई। और, वे एकदम हताश हो गए थे। तब, उक्त बा. साहब का उन्हें एक पत्रा मिला–

कानपुर
21 अप्रैल, 1885

'प्रिय मित्रा,

कुछ देखा–सुना? 'भारतेन्दु' का जन्म जन्माष्टमी ही को है। यह नित्यमेव प्रकाश करेगा, केवल रविवार को नहीं। लो बस, लेखनी को सुधारो, कागज को उठायो। लेखों की मारामारी से, नागरी की इस क्यारी में एक तुम भी न्यारी ही कर लो। यह चार यारों–राधाकृष्ण[1], चरण[2], प्रताप[3] राम[4]–की चारयारी है। इसे बाँटों, अपने मन के गट्ठे खोलो। लिखो, कहाँ तक लिखोगे। प्रिय, यदि आज्ञा हो, तो इस निःसहाय हिंदू को ही, प्रथम 'भारतोदय' में प्रकाशित कर डालें।

आपका अभिन्न–
सीताराम।'

किन्तु दुर्भाग्यवश, यह पत्रा एक वर्ष भी न चलने पाया और अपना नाम छोड़कर चल दिया। उसे भी अब लोग भूल गए हैं।

ये बा. सीताराम, पू. द्विवेदीजी के पुराने मित्रों में हैं। इन्होंने, हम लोगों के आगत–स्वागत में बड़ी सहृदयता का परिचय दिया। अस्तु।

एक दिन प्रातःकाल पं. गौरीदत्त वाजपेयी तथा पं. गिरिजादत्त वाजपेयी–युगल भ्राताओं के दर्शन हुए। जिन पर द्विवेदी जी का पुत्रावत् वात्सल्य स्नेह आज तक बना है। वे इन दोनों भाइयों को–बी.ए., एम.ए. तक की शिक्षा दिलाने में बराबर आखथक सहायता करते रहे। वे दोनों भाई, आज एक उच्च पदों पर सरकारी नौकरी पर हैं। जिस समय इन वाजपेयी भ्राताओं से साक्षात् हुआ था–उस समय शायद वे, कैनिंग–कॉलेज (लखनऊ) में पढ़ते थे।

वहीं पर, उक्त बाबू साहब के यहाँ, द्विवेदीजी की चर्चा होने लगी, जिसके द्वारा उनकी रचनाओं के विषय में मैंने बहुत कुछ परिचय पाया। वहीं मैंने उनका लिखा, किन्तु अप्रकाशित, अपूर्व विद्वतापूर्ण वैज्ञानिक ग्रन्थ, कामशास्त्रा पर–जिसमें अश्लीलता नहीं थी–देखा। उससे द्विवेदीजी की अगाध विद्वत्त का पता लगता है। तबसे उन पर मेरी श्रद्धा और भी अधिक हो गई।

सन् 1897 में, विद्वद्वर द्विवेदीजी ने, 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' तथा हिंदी और देश–हितैषी स्व. राजा रामपाल सिंह (कालाकाँकर–नरेश) के सुप्रसिद्ध एक मात्रा दैनिक 'हिंदोस्थान' में, अवधवासी लाला सीताराम–अनुवादित 'हिंदी कालिदास ग्रन्थावली' के कुमार सम्भव, मेघदूत, ऋतुसंहार आदि ग्रन्थों की, बड़ी तीव्र तथा उग्र भाषा में, लेखमाला के रूप में समालोचना निकालना प्रारम्भ किया। जिससे, तत्कालीन हिंदी–साहित्य–संसार में एक बड़ा भारी तहलका मच गया। इससे हिंदी–साहित्य–समाज में, समालोचक महोदय की साहित्य–मर्मज्ञता की ख्याति चारों ओर फैल गई; पर, सभी पाठकों के मन में यह बात जम गई, कि ऐसी कड़ी समालोचना अवश्य रागद्वेष, ईर्ष्या के वशीभूत होकर लिखी गई है। तो भी समालोचना अधिकांशतः सच्ची थी।

जाँच करने पर उक्त आक्षेप करने वालों की बात किसी अंश में ठीक निकली। लाला

सीताराम झाँसी में डिप्टी कलेक्टर थे, उस समय द्विवेदीजी परस्पर विद्वान होने के नाते, उनसे मिलने को, सात–आठ बजे रात्रि में गये, उस वक्त, उक्त लाला साहब किसी आवश्यक कार्य में लगे थे, जिसके कारण न मिल सके। द्विवेदीजी ऐसे आत्माभिमान रखने वाले विद्वान को यह उनका असद्व्यवहार जँचा; और है भी ठीक। जिसका परिणाम यह हुआ, कि लालाजी की उन अनुवादित कृतियों की समालोचना, द्विवेदीजी, कड़े और मर्ममेदी शब्दों में निकालने लगे।

इसके बाद, उक्त लालाजी–संशोधित 'हिंदी–शिक्षावली' (तीसरा भाग) की समालोचना, पुस्तकाकार प्रकाशित करके, द्विवेदीजी ने शिक्षा–विभाग के पास भेज दी। शिक्षा–विभाग का ध्यान इस ओर गया और शायद हिंदी–शिक्षावली के प्रकाशक इण्डियन प्रेस पर धाक जम गई।

इसी समय, चाहे कुछ आगे या पीछे, लाला साहब के सुपुत्रा बा. कौशलकिशोर बी. ए. को, द्विवेदीजी की उक्त समालोचनाएँ असह्य हुईं। उन्होंने कलकत्ते के सुप्रसिद्ध 'भारतमित्रा' में इस आशय की एक समालोचना छपवाई कि–'पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'कालिदास के किसी ग्रन्थ का अनुवाद भी किया है या ला. सीताराम के ही ग्रन्थों में त्रुटियाँ दिखलाना जानते हैं।'

इस पर द्विवेदीजी ने उत्तेजित होकर झटपट कालिदास के एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का 'कुमार सम्भवसार' नाम से पद्यानुवाद करके, काशी नागरी–प्रचारिणी–सभा को प्रकाशनार्थ भेज दिया।

उधर विद्वद्वर लाला सीतारामजी बी. ए.–श्री सीताराम की भाँति–शान्तभाव से सब प्रहार सहन करते रहे, निज नाम को चरितार्थ करते रहे। यहाँ तक कि अपने मित्रों को–जो कि द्विवेदीजी के आक्षेपों का प्रतिवाद करने का इरादा जाहिर करते थे–लालाजी रोक देते थे। उनकी यह सहनशीलता सराहनीय कही जा सकती है। इसी भाँति, श्रद्धेय पं. महावीर प्रसाद द्विवेदीजी ने भी, 'महावीर' नाम को निज प्रखर लेखनी–गदा–चलाकर निज नाम को चरितार्थ कर दिखाया। शायद 'यथा नाम तथा गुणः'–लोकोक्ति ऐसे ही अवसर पर काम में लाई जाने के लिए गढ़ी गई है।

यह सम विद्या बुद्धि रखने वाले विद्वानों का परस्पर की खींचातानी है। इन झगड़ों से हमें कोई काम नहीं; हमारे लिए दोनों ही सज्जन, हिंदी–साहित्य के नाते पूज्य तथा आराधनीय हैं।

सन् 1899 के अन्त में स्व. बा. राधाकृष्णदास तथा बा.श्यामसुन्दरदास बी.ए. का कार्यवश प्रयाग जाना हुआ। वे लोग 'भारती भवन–पुस्तकालय' में ठहरे। वहाँ इण्डियन–प्रेस से 1918 में प्रकाशित, और बा. रसिकलाल–रचित 'खिलौना' नामक पुस्तक का हिंदी–संस्करण देखकर दोनों सज्जन बड़े प्रसन्न हुए। उक्त पुस्तक आज भी हिंदी में बालकों के लिए उपयोगी और नई चीज है। अस्तु। दोनों महानुभाव प्रसन्नता–पूर्वक, इण्डियन–प्रेस के स्वामी बा. चिन्तामणि घोष से मिले, और प्रसंगवश उनकी सेवाओं की चर्चा करते हुए कहा, कि आप हिंदी–साहित्य के लिए उत्तमोत्तम विषयों पर सुलेखकों से पुस्तकें लिखवाकर प्रकाशित करें तथा एक सुन्दर मासिक–पत्रा भी निकालें, तो हिंदी का असीम उपकार होगा। तब घोष बाबू ने कहा, कि हमारा भी विचार एक उच्चकोटि के मासिक–पत्रा के निकालने का है, जो कि बा. रामानन्द चटर्जी एम.ए. द्वारा संपादित 'प्रदीप'–बंगला मासिक पत्रा–के ढंग का हो। यहाँ पर यह बता देना शायद अनुचित न होगा, कि यह 'प्रदीप नामक पत्रा, हिंदी तो क्या, समग्र भारतीय भाषाओं में एक मात्रा अपने ढंग का पहला पत्रा था, जिसका नाम विद्वान संपादक महोदय ने, स्व. पं. बालकृष्ण भट्टजी के 'हिंदी–प्रदीप' के 'प्रदीप' को लेकर उद्दीप्त किया था। उन दिनों, कायस्थ–पाठशाला प्रयाग में रामनन्द बाबू प्रिंसिपल थे और भट्टजी संस्कृताध्यापक। दोनों सज्जनों में प्रगाढ़ मित्राता थी। रामानन्द बाबू भट्टजी का बहुत सम्मान करते थे। अस्तु।

स्व. चिन्तामणि बाबू की प्रस्तावित पत्रिाका का नाम 'साहित्य' रखने का विचार किया गया; पर उन दिनों सुप्रसिद्ध साहित्य–सेवी स्व. सुरेशचन्द्र समाजपति का 'साहित्य' नामक पत्रा बँगला में निकलता था; अतः जनवरी, सन् 1900 से, अपने अनूठे नाम से, 'सरस्वती' ने, हिंदी–संसार को दर्शन देना आरम्भ किया। उस समय हिंदी–साहित्याकाश में बहुत थोड़े से सुयोग्य लेखक की संध्या–तारा की तरह चमचमा रहे थे। उन्हें भी कोई उत्साह देने वाला न था। उस समय 'सरस्वती' का प्रकाशन–समाचार सुनकर, स्वर्गीय पं. रुद्रदत्त शर्मा ने कहा था–हिंदी में इतने उच्चकोटि के लेखक कहाँ मिलेंगे! पत्रा का चलना अभी कठिन है।'

पहले वर्ष 'सरस्वती' का संपादन करने के लिए, काशी–नागरी–प्रचारिणी–सभा ने–अपनी अनुमोदित पत्रिाका होने के कारण–अपने सुयोग्य सभासदों में से पाँच सज्जनों की एक समिति बना दी। इस संपादन–समिति के सदस्य ये महानुभाव थे–बा. जगन्नाथदास 'रत्नाकर', स्व. बा.राधाकृष्णदास, स्व.बा. काख्त्तकप्रसाद खत्री, पं. किशोरीलाल गोस्वामी और बा. श्यामसुन्दर दास।

उस समय पूज्य द्विवेदीजी इत्यादि 'सरस्वती' के प्रधान सहायक लेखकों में थे।

उसी समय, द्विवेदीजी ने 'नैषध–चरित–चर्चा' नामक एक गवेषणात्मक एवं पाण्डित्य–पूर्ण लेख नागरी–प्रचारिणी पत्रिाका (सन् 1900, भाग 4, सं. 2) में लिखा था। जिस पर 'सुदर्शन' के स्व. सुयोग्य संपादक, बाण–तनय पं. माधवप्रसाद मिश्र, निज शस्त्रा चक्रसुदर्शन को धारण करके, शिविर से निकलकर संस्कृत–साहित्य की मर्मज्ञता के बल पर, रणांगण में आकर खड़े हुए। तब द्विवेदीजी ने 'नैषध–चरित–चर्चा' और सुदर्शन नामक लेख 'सरस्वती' के प्रथम भाग की छठी संख्या में छपवाया। इससे पहले हिंदी–संसार में, इस प्रकार का अनुसन्धानपूर्ण तर्क–युद्ध मेरी जानकारी में नहीं देखने में आया था। उस तर्क–युद्ध को देखकर हिंदी–संसार में हलचल–सी मच गई। हिंदी–साहित्य–सेवियों ने उसी तर्क–युद्ध से, समालोचन में वाद–प्रतिवाद का आधुनिक ढंग सीखा। उस अनुकरण से हिंदी–साहित्य का भविष्यत् के लिए महान उपकार हुआ। इसके पश्चात् 'सरस्वती' में पू. द्विवेदीजी के 15 विद्वत्ता–पूर्ण लेख और निकले। दूसरे वर्ष, 1901 ई. में, संपादकीय प्रबन्ध में असुविधा होते देख, 'सरस्वती' की संपादन–समिति तोड़ दी गई। और संपादन करने का समस्त भार आदरणीय बा. श्यामसुन्दरदासजी बी.ए. को सौंप दिया गया।

इसी वर्ष, (भाग 3, सं. 6, पृ. 195) श्री द्विवेदी जी का एक लेख 'नायिका भेद'–शीर्षक 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ। उसे देखकर हिंदी–साहित्य के पुराने खूसट विचारवानों का दिमाग खौल उठा और चारों ओर से उस

लेख और उसके लेखक का घोर विरोध होने लगा, जिसके अग्रणी हिंदी के सिद्धहस्त लेखक और पत्रा–संपादक, 'भारत–मित्रा' के स्व. लाला बालमुकुन्द गुप्त थे। यों तो उनके सहगामी सभी पत्रा–संपादक और लेखक हो गए थे। हिंदी–साहित्य की दुनिया में उस समय बड़ी चहल–पहल मची हुई थी। श्री द्विवेदीजी सबके प्रहारों के मुकाबले में बराबर अकेले, प्रतिद्वंद्विता के लिए डटे रहे।

उसी वर्ष की संख्या पाँच में द्विवेदीजी ने 'विधि–विडम्बना' नामक हास्यरस–पूर्ण एक कविता लिखी। वह कविता मुझे बहुत सरस और सुन्दर मालूम हुई। कारण, कानपुर– निवासी सुप्रसिद्ध तुर्रे वाले स्व. रामप्रसाद त्रिापाठी के मुख से ऐसी ही ओजपूर्ण लावनी– या ख्याल– अपनी जन्मभूमि (मिर्जापुर) में मैंने सुनी थी। उसमें ब्रह्माजी बेचारे की बहुत बड़ी–बड़ी भूलें चार–पाँच 'चौक' में दिखाई गई थीं। मुझे इस समय सिर्फ उसकी टेक के प्रथम दो चरण ही याद हैं–

'ब्रह्मा ने जब रचा सृष्टि को उनसे ना बना बनाते जी।

हम से जो पूछते तो हम रचना की राह बताते जी डु'

शायद, इसी ढाँचे और भाव को आदर्श मानकर, द्विवेदीजी ने विविध–विडम्बना की रचना की है। 'विधि–विडम्बना' की प्रायः बहुत–सी वख्रणत बातें उक्त पूर्वरचित लावनी में है। द्विवेदी जी की कविता के कुछ चरण, भिन्न–भिन्न स्थान में यहाँ उद्धृत किए जाते है; आशा है, पाठकों का मनोरंजन होगा–

'चाह चरित तेरे चतुरानन! भक्तियुक्त सब गाते हैं; इस सुविशाल विश्व की रचना तुझसे ही बतलाते हैं।

चतुर्वेदी की शपथ तुझे है, मुझे बात यह बतलाना, तूने भी, कह, क्या अपने का महाचतुर मन में माना?

नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं; सींग क्यों नहीं उनके सिर पर बड़े–उग आते हैं?

मूर्ख, धनी, विद्वज्जन, निर्धन, उलटा सभी प्रकार, तेरी चतुराई को ब्रह्मा! बार–बार धिक्कार!'

इस कविता को पढ़कर मैं तो आनन्दित हुआ; पर, चतुरानन की चतुराई पर आक्षेप होने से कितने ही चतुरानन–कुमार विपक्ष में, निज पितृव्य के नाते वकालत करने को खड़े हो गए थे, जिससे साहित्य–संसार में एक कौतूहल का जमाना उपस्थित हो गया था। आलोचकों–की बुद्धि की बलिहारी है।

1902 में, 'सरस्वती' के तीसरे वर्ष की सातवीं संख्या में, 'प्रतिभा' शीर्षक एक विचारपूर्ण लेख छपा। जिसमें बड़े–बड़े विद्वान प्रतिभाशाली लोगों के स्वभाव, बड़ी ही खोज के साथ दिखाए गए हैं और सभी प्रतिभाशाली पुरुषों को उनकी हरकतों से, बड़ी युक्ति और विचार के साथ एक प्रकार का 'पागल' सिद्ध कर दिखाया गया है।

इस लेख को पढ़कर मैं बहुत आनन्दित हुआ। क्यों? इस 'प्रतिभा' लेख के लेखक महोदय को भी एक महान प्रतिभाशाली पुरुष मान करके हिंदी की सारी दुनिया आदर तथा सम्मान करती है। इस लेख के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख फिर कभी किया जाएगा।

सन् 1903 से, चौथे भाग से, इण्डियन–प्रेस के मालिकों के अनुरोध से, 'सरस्वती का संपादन–भार द्विवेदीजी ने अपने हाथ लिया।

उस समय 'सरस्वती' के ग्राहकों की संख्या इतनी अल्प थी, कि बराबर घाटे–पर–घाटा हो रहा था। 'सरस्वती' के मालिकों ने उसे बन्द कर देने का इरादा जाहिर किया। 'सरस्वती' के साथ मेरी आन्तिरक सहानुभूति उसके जन्मकाल से ही थी और समय–समय पर मैं उसे ग्राहक भी देता रहा। शायद इसी प्रगाढ़ सहानुभूति के नाते, प्रकाशकों ने मुझसे भी अपना इरादा जाहिर किया। मैंने कहा– 'आप धैर्य के साथ इस घाटे को सहन करें। आप ही ऐसे महानुभाव 'सरस्वती' का संचालन कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं। और, आज दिन 'सरस्वती की जो स्थिति है, तथा द्विवेदी जी के आचार्यत्व में उसने हिंदी संसार में जो साहित्यिक नवयुग उपस्थित किया, वह हम लोगों के सामने प्रत्यक्ष है।

(प्रेमचन्द द्वारा संपादित 'हंस',के आत्मकथा अंक जनवरी–फरवरी 1932 ई. से साभार)

---

1. आ.राधाकृष्णदास, 2. राधाचरण गोस्वामी, 3. स्व. पं. प्रतानारायण मिश्र, 4. बा. सीताराम

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की पत्रिकाएँ

पुस्तक–वार्ता
संपादक : भारत भारद्वाज
मूल्य : 20/– प्रति अंक

हिंदi
संपादक : ममता कालिया
मूल्य : 100/– प्रति अंक

बहुवचन
संपादक : राजेन्द्र कुमार
मूल्य : 50/– प्रति अंक

पत्रिकाएँ मँगवाने के लिए सम्पर्क करें :
प्रकाशन विभाग, क्षेत्रीय केंद्र,
महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
ई–47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्र,
फेज–II, नई दिल्ली–110020
फोन : 011–26387365

हेर्टा म्यूलर को साहित्य का नोबेल पुरस्कार

सुभाष शर्मा

हेर्टा म्यूलर का जन्म सत्राह अगस्त 1963 को नित्वीडोर्फ नामक गाँव (तिमिस काउंटी, बनात जिला) रोमानिया में हुआ था। वास्तव में नित्वीडोर्फ गाँव पश्चिमी रोमानिया में स्थित है जो जर्मन भाषा–भाषी अल्पसंख्यक गाँव रहा है। उनके दादा एक अमीर किसान एवं व्यापारी थे। उनके पिता वाफेन एस एस में सेवारत थे जबकि उनकी माँ द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पाँच साल तक उक्रेन में (जो पहले सोवियत रूस का भाग था) एक बँधुआ मजदूर शिविर में जिन्दगी का संघर्ष लड़ती रहीं। इसी तरह करीब एक लाख जर्मन भाषा–भाषी रोमानिया से निकालकर सोवियत रूस के बँधुआ मजदूर शिविरों में मजबूर जिन्दगी जीने को अभिशप्त थे। दरअसल हेर्टा म्यूलर की मातृभाषा जर्मन है मगर उन्होंने माध्यमिक विद्यालय में रोमानियाई भाषा भी सीखी। कहने की जरूरत नहीं कि उच्च शिक्षा के दौरान उन्होंने जर्मन एवं रोमानियाई दोनों भाषाओं एवं साहित्यों का वृहत् ज्ञान तिमिसोआरा विश्वविद्यालय में प्राप्त किया।

उनके लेखन की असली शुरूआत 1976 में हुई जब वह एक इंजीनियरिंग कारखाने के लिए अनुवादक के रूप में काम करने लगीं। मगर अपनी आत्मा एवं नौकरी को बचाने के लिए उन्होंने रोमानिया की खुफिया पुलिस के लिए काम करने से इनकार कर दिया। नतीजतन उन्हें नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया। जिन्दगी की गाड़ी चलाने के लिए उन्होंने एक नर्सरी (के.जी.) विद्यालय में पढ़ाना शुरू कर दिया मगर उतनी सीमित तनख्वाह से गुजारा नहीं हो पाता था। सो उन्होंने जर्मन भाषा का ट्यूशन पढ़ाना शुरू कर दिया। उनकी जर्मन भाषा में लिखित लघु कथाओं की पहली पुस्तक 'नादिर्स' (नीदरुंगेन) रोमानियाई सेंसर के बाद 1982 में मूल रचना में कतिपय परिवर्तन के बाद छपी जिसमें एक बच्चे की नजर से जर्मन–सांस्कृतिक बनात क्षेत्रा का अत्यन्त आकर्षक एवं स्मरणीय वर्णन है। इस समय वहाँ सेंसर का कितना खौफ था, इसका अन्दाज इसी से लगाया जा सकता है। हेर्टा म्यूलर ने निकोले चाउसेस्कू राज की दमनकारी दशाओं को नजदीक से देखा और झेला। उन्होंने रोमानिया के बनात जिले में अल्पसंख्यक जर्मन लोगों पर हो रहे अत्याचार को देखा एवं झेला तथा एक लेखक के नाते वहाँ के जर्मन लोगों के इतिहास को खँगाला। एक संवेदनशील लेखक की हैसियत से उन्होंने 'एक्शनग्रुप बनात' की सदस्यता ग्रहण कर ली जो रोमानिया में रह रहे जर्मन भाषी साहित्यकारों का एक सक्रिय संगठन था और चाउसेस्कू राज की दमनकारी सेंसरशिप जैसी नीतियों का जमकर विरोध करता था और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्राता के लिए जी जान से काम करता था। उनकी औपन्यासिक रचना 'द लैण्ड ऑफ ग्रीन प्लम्स' (1996) में ऐसे शोषक एवं अत्याचारी शासन के कुकृत्यों की झलक मिलती है। इसमें एक चरित्रा ऐसा भी है जो 'एक्शनग्रुप' का सदस्य था और जिसे चाउसेस्कू की खुफिया पुलिस ने मौत के घाट उतार दिया था।

चूँकि रोमानिया के उस शासन में उनका दम घुट रहा था, सो उन्होंने 1985 में पश्चिमी जर्मनी चले जाने की अनुमति माँगी मगर उन्हें आवश्यक अनुमति नहीं मिली। एक बार उन्हें खुफिया पुलिस ने जान से मारने की धमकी भी दी थी। फिर भी बार–बार प्रयास करने पर 1987 में उन्हें अपने पति उपन्यासकार रिचर्ड वैगनर के साथ रोमानिया से कूच करने की अनुमति मिल गई। सो वे पश्चिमी बखलन शहर में बस गए और तब से वहीं रह रहे हैं।

कालान्तर में उन्होंने जर्मनी और अन्य देशों के विश्वविद्यालयों में व्याख्याता के रूप में काम किया। उन्होंने 1990 तक अपने लेखन की आग का लोहा यूरोप में मनवा लिया। सो 1995 में वह जर्मन लेखन एवं कविता अकादमी की सदस्य चुनी गईं और कालान्तर में 'पेन' जैसी महत्त्वपूर्ण संस्था में भी शामिल हुईं मगर 1992 में उन्होंने 'पेन' केन्द्र (जर्मनी) से इस्तीफा दे दिया क्योंकि उसे पूर्व के जर्मन लोकतान्त्रिाक गणराज्य की शाखा में मिला दिया गया था। बाद में जुलाई 2008 में वह फिर चर्चा में आईं जब उन्होंने रोमानियाई सांस्कृतिक संस्थान के अध्यक्ष को इस आशय का विरोध–पत्रा लिखा कि संस्थान ने रोमानिया की खुफिया पुलिस के दो मुखबिरों को रोमानियाई–जर्मन ग्रीष्म विद्यालय में भाग लेने के लिए वित्तीय एवं नैतिक मदद क्यों दी। इस प्रकार लेखन की तपिश के साथ वह जरूरी मुद्दों पर सचेत रहीं।

रोमानियाई और जर्मन भाषा–साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने के कारण हेर्टा म्यूलर ने यह संजीदगी से महसूस किया कि दोनों में शब्द ही भिन्न नहीं हैं, दोनों की दुनिया और नजरिया भी भिन्न है। उदाहरण के तौर पर, रोमानियाई लोग तारे

के टूटने को अशुभ मानते हैं और इसे मृत्यु से जोड़ते हैं (कहीं कोई मर गया), जबकि जर्मन लोग इसे शुभ मानते हैं कि टूटते तारे को देखने पर कोई भी इच्छा व्यक्त करने पर पूरी हो जाती है। वह दोनों के सह–अस्तित्व की हिमायती रही है। दरअसल सच्चाई यह है कि उन्होंने सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया है कि उनके दिल में रोमानियाई लोकगीत–संगीत के लिए विशेष स्थान है। जब उन्होंने पहली बार रोमानियाई लोकगीतकार मारिया तनासे को सुना, तो वह 'अतुल्य' लगीं और हेर्टा म्यूलर ने तब लोकगीत– संगीत का सही और प्रासंगिक मायने समझा : ''रोमानियाई लोकसंगीत वजूद से बहुत अर्थपूर्ण ढंग से जुड़ा है।'' यह कहने की जरूरत नहीं कि कहीं–न–कहीं वह अपने सहपाठी, सहकर्मी और बाद में बने पति उपन्यासकार रिचर्ड वैगनर से भी प्रभावित रही हैं।

उनका सबसे महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'एग्रीथिंग आइ ओन आइ कैरी विद मी' ('डाई एटमशॉकेल') है। हेर्टा म्यूलर ने इस रचना में जर्मन लोगों की सोवितय रूस से बँधुआ मजदूर शिविरों में गुजरती जिन्दगी की त्रासदी का अत्यन्त रोमांचकारी एवं हृदय–विदारक वर्णन किया है। सच्चाई यह है कि इसके मुख्य आधार कवि ओस्कर पास्टिअर के मौखिक संस्मरण तथा उनकी माँ की भोगी जिन्दगी के कटु यथार्थ रहे हैं। इस उपन्यास के कुछ अंश अत्यन्त संवेदनशील हैं : 'मैं उसी पहले आदमी के साथ दूसरे मिलन–स्थल पर गई। उसे 'हंस' के नाम से पुकारा जाता था। दूसरा आदमी नया था जिसे 'एफ.आई. आर.' कहा जाता था। तीसरे आदमी को 'कान' कहा जाता था। उसके बाद 'धागा' आया। उसके बाद 'ओरिओल' (काले–पीले पंखों वाला पक्षी) और फिर 'टोपी' आए। तत्पश्चात् 'खरगोश', 'बिल्ली', 'समुद्री चिड़िया'। उसके बाद 'मोती'। सिर्फ हमें पता था कि क्या नाम किसका था। हम जंगली जानवरों से खेलते थे–मैं अपने को पिछड़ने देती थी। और पार्क में यह गर्मी का मौसम था...''

''...1968 में जब मैंने देश छोड़ा, किसी भी मिलन का मतलब होता जेल की सजा। कम–से–कम पाँच साल तक की सजा यदि मैं पकड़ी जाती। कई लोग पकड़े गए। क्रूर पूछताछ के बाद वे पार्क या नगरपालिका स्नानागार से सीधे जेल ले जाए गए। वहाँ से नहर के बगल में स्थित जेल शिविर में ले जाए गए। मुझे अब पता चला : नहर से कोई भी वापस नहीं लौटा। जो कोई लौट सका, वह चलती–फिरती लाश ही था। वह बूढ़ा हो गया था, बर्बाद हो गया था और किसी भी प्रकार के प्यार के लायक नहीं रह गया था।'' ''शिविर में पाँच साल रहने के बाद मैं गलियों में भीड़–भाड़ से गुजरती हुई रोजाना टहलती थी, पकड़े जाने पर सबसे अच्छी चीजें कहने का पूर्वाभ्यास करती हुई। रंगे हाथ पकड़ी जाने पर : इस आपराधिक फैसले के खिलाफ मैंने हजार बहाने तैयार कर लिए थे। मैं खामोश बोरिया–बिस्तर लेकर चलती हूँ। मैंने अपने आपको खामोशी में इतनी गहराई तक और इतनी दूर तक गठरी बनाकर बाँध लिया है कि इसे मैं शब्दों में नहीं व्यक्त कर सकती। हर बार जब मैं बोलती हूँ , तो मैं अपने को अलग ढंग से गठरी में बाँध लेती हूँ।'' ''कुछ चीजें ऐसी होती हैं जिनके बारे में आप कुछ नहीं कहते। मगर मैं जानती हूँ कि मैं क्या बोल रही हूँ जब मैं कहती हूँ कि आपकी गर्दन के चारों ओर की खामोशी वही नहीं है जो तुम्हारे मुँह में (खामोशी) होती है। शिविर के पहले,उसके दौरान और उसके बाद के अपने समय में पच्चीस सालों तक मैं राज्य और अपने परिवार से भय के साये में जीती रही। दोहरी अधोगति इसलिए थी कि राज्य मुझे एक अपराधी के रूप में जेल में बन्द कर सकता है और परिवार अपमान के कारण मुझे अस्वीकार कर सकता है।''

उपरोक्त अंश तत्कालीन रोमानिया के तानाशाही शासन के दमन की यथार्थपरक झलक पेश करते हैं जिन्हें हेर्टा म्यूलर ने माँ के अनुभव को बाँटकर जाना, जिन्हें परानुभूति से उन्होंने यथार्थपरक तरीके से पेश किया है जो तथाकथित 'भोगे यथार्थ' के तर्क को बौना बना देता है–बिना रोमानियाई जेल या शिविर में रहे और बिना भोगे हुए किसी खास जीवनानुभव को पूरी सदाशयता, रचनात्मकता एवं मौलिकता के साथ चित्रित करना। उनकी यह खूबी उन्हें अन्य समकालीन साहित्यकारों से अलग पहचान दिलाती है। उनके शब्दों में कहें,

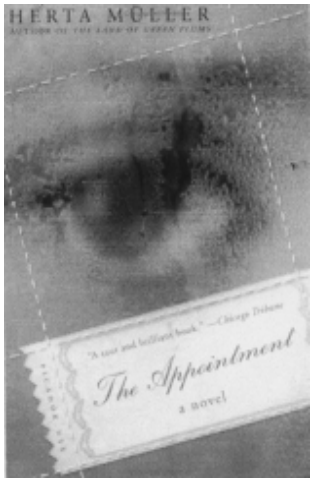

तो ''जिन्दगी एक काव्यात्मक कल्पना का यथार्थ भर नहीं है बल्कि निरन्तर अन्तर्मन की विद्रोह भरी यात्राा है। हम इन यात्राओं पर बार–बार जाते हैं और कभी हारकर तो कभी ऊर्जा से लबरेज होकर लौटते हैं।'' कहने का आशय यह है कि जीवन के खुरदरे यथार्थ (उत्पीड़न और संघर्ष या विद्रोह दोनों) उनकी कृतियों के आधार हैं। उन्होंने एक बार रोमानियाई रेडियो को दिए गए साक्षात्कार में कहा था कि स्वर्ग और नरक हमने ही बनाए हैं। सत्राह वर्ष की उम्र में जब खुफिया पुलिस ने मेरी गर्दन पर हाथ लगाए थे, तो मैंने महसूस किया कि नरक की कल्पना इसी धरती पर है, कहीं और नहीं। उनकी सृजनात्मक कृतियाँ हैं 'डेर' (युद्ध 1992), 'द पासपोर्ट' (1989), 'द ट्रेवलिंग ऑन वन लेग' (1988), 'द असाइनमेंट' (2001), 'फास ऑफ डेर' (बन्दनवान, 1986)। इसके अलावा उन्होंने कविता और आलोचना की कई पुस्तकें लिखी हैं जिनमें 'पोट्रेट लूनिया', 'डेर कोनिग बर्नेट सिक अंड रोटेट' (2003) और 'दास्क्लू बोगडन' प्रमुख हैं। मगर सबसे महत्त्वपूर्ण उनका उपन्यास, 'एग्रीथिंग आइ ओन आइ कैरी विद मी' ('मैं अपनी हर चीज अपने साथ ले जाती हूँ')। लेखिका भी इसे सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण रचना समझती है। उन्होंने अपने बचपन से युवावस्था तक रोमानियाई गाँव में किसानों की जो तकलीफें देखीं, शासन की नीति और नीयत से हटकर सोचने और काम करने वालों की जो दुर्दशा देखी, जो पुरातनपंथी रीति–रिवाज देखे और अध्ययन के दौरान रोमानियाई भाषा–साहित्य तथा जर्मन, भाषा–साहित्य में जो दृष्टि–भेद देखे, उन्हें अपनी रचनाओं में सौन्दर्य और यथार्थ के अद्भुत सन्तुलन के साथ चित्रित किया है। उनकी रचनाएँ बीस से अधिक भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं मगर करोड़ों हिंदी पाठकों का दुर्भाग्य है कि अभी तक उनकी रचनाएँ हिंदी में अनूदित नहीं हैं। यूँ यह भी सही है कि पुरस्कार मिलने के पूर्व उन्हें यूरोप के बाहर नहीं जाना जाता था। अमेरिकी लेखक इस बार भी निराश हुए क्योंकि पिछले कई वर्षों से सिर्फ यूरोप के साहित्यकारों को नोबेल साहित्य पुरस्कार मिल रहा है। मगर यह कटु सत्य है कि अमेरिका विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में भले विश्व की अगुवाई करे, अभी साहित्य और संस्कृति में वह अन्य महाद्वीपों के साहित्यकारों से सैंकड़ों मील पीछे है। हिंदी भाषा–साहित्य के रचनाकार, आलोचक, पाठक, प्रकाशक आदि ने दबे मन से स्वीकार कर लिया है कि हिंदी की रचनाएँ नोबेल साहित्य पुरस्कार पाने की ही नहीं, नामांकित होने की भी गुंजाइश नहीं रखतीं। दूसरी ओर अफ्रीकी भाषा–साहित्य के रचनाकारों की देशज रचनाएँ अनूदित होकर अँग्रेजी, फ्रांसीसी, स्पैनिश, जर्मन आदि में पुरस्कृत तथा समादृत हो रही हैं। हिंदी बोलने वालों की और हिंदी में विज्ञापनों की संख्या (बाजार के मद्देनजर) बढ़ रही है मगर हिंदी को वैश्विक स्तर पर न्यूनतम प्रतिष्ठा नहीं मिल रही है।

उन्हें 2009 के नोबेल साहित्य पुरस्कार मिलने के पहले दर्जनों सम्मान/पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं जिनमें प्रमुख हैं : क्लिएस्ट पुरस्कार (1994), अरिस्टेइऑन पुरस्कार (1995), अन्तरराष्ट्रीय इम्पैक डब्लिन साहित्य सम्मान (1998), 'फ्रांत्स वर्फेल ह्यूमन राइट्स अवार्ड' (2009) आदि।

स्वीडिश अकादमी ने हेर्टा म्यूलर को पुरस्कार देते हुए कहा था कि वह 'कविता की सघनता तथा गद्य की स्पष्टवादिता के साथ बेदखल लोगों का भूदृश्य चित्रित करती हैं।' उनकी वर्णन–शैली फ्रांत्स काफ्का जैसी है जिसमें जर्मन एक अल्पसंख्यक भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। कुछ लोगों का मानना है कि उन पर काफ्का का कमोबेश प्रभाव है। साम्यवाद के पतन के बीस साल होने पर संयोगवश जो नोबेल साहित्य पुरस्कार हेर्टा म्यूलर को मिला है, उस पर उनके प्रकाशक माइकेल क्रूगर ने एक जबर्दस्त टिप्पणी की है, ''हेर्टा म्यूलर, जो रोमानिया में जर्मन भाषी अल्पसंख्यक के रूप में पली–बढ़ीं, को यह पुरस्कार देकर समिति ने ऐसे लेखक को मान्यता दी है जो साम्यवाद के तहत जीवन के अमानवीय पक्ष को भूलने से इनकार कर देता है।''

नोबेल पुरस्कार मिलने के बाद मारिका ग्रीसेल को दिए गए अपने पहले रेडियो साक्षात्कार (8 अक्टूबर 2009) में हेर्टा म्यूलर, अपनी रचना के बारे में निम्नलिखित चीजें स्पष्ट करती हैं : पहली, लेखन में मैं स्वयं रहती हूँ और यह मुझे सहारा देता है। मैंने सदैव खुद के लिए लिखा है (स्वान्तः सुखाय)। दूसरी, साहित्य वहीं जाता है जहाँ भारी दबाव होता है–मैंने अपने कथानक को नहीं चुना, बल्कि मेरे कथानक ने मुझे चुना यानी लेखक वही लिखता है जो उसे निरन्तर घेरे रहता है और कचोटता है। तीसरी, कोई अपने विचारों को धोखा देकर खुद को दूसरों पर नहीं थोप सकता। दूसरों से सम्बन्ध बनाए रखने के लिए एक हद के बाद कोई न झुक सकता है, तथा न कुछ और होने का दिखावा कर सकता है। चौथी, विभिन्न भाषाओं में चीजों को देखने के नजरिए भिन्न–भिन्न होते हैं क्योंकि भाषा की आँखें भिन्न होती हैं। मेरे पास दो भाषाओं (रोमानियाई और जर्मन) की दो भिन्न दृष्टियाँ हैं मगर मुझे नहीं पता चलता है कि कब मैं इनमें से किस दृष्टि से लिखती हूँ।

जाहिर है कि उनकी शब्द–यात्राा और जीवन–यात्राा में फाँक नहीं है और इसीलिए उनका लेखन सार्थक और समृद्ध है। मगर जरूरत है उनकी रचनाओं को हिंदी में शीघ्र प्रकाशित–प्रसारित करने की जिससे रोमानिया के अल्पसंख्यकों की जिन्दगी की घुटन और चुभन से हम परिचित हो सकें और शायद हमारी सोच, कर्म और विश्वदृष्टि में थोड़ा–बहुत परिवर्तन भी हो सके क्योंकि किसी भी अच्छी कृति को पढ़ने के बाद पाठक वैसा नहीं रह जाता जैसा उसके पढ़ने के पहले था।

डी–71, निवेदिता कुंज, आर. के. पुरम, सेक्टर–10, नई दिल्ली–110022, फोन : 011–26162591

26/11 का झूठा सच

अनंत विजय

मुम्बई पर हुए आतंकवादी हमले 26/11 को सालभर से ज्यादा वक्त हो गया लेकिन इस हमले से जुड़ी घटनाओं और तथ्यों के बारे में अब भी हर रोज नए–नए चौंकाने वाले तथ्य सामने आ रहे हैं। यदि कुछ तथ्य देशवासियों को राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार के हैं तो कुछ हमें शर्मसार करते हैं। मुम्बई में हुए अब तक के सबसे बड़े आतंकी हमले के दौरान आतंकी अजमल कसाब की गोलियों से शहीद हुए एडिशनल पुलिस कमिश्नर अशोक काम्टे की पत्नी विनीता काम्टे की किताब–'टू द लास्ट बुलेट'– अभी आई है जिसमें मुम्बई पुलिस के कुछ आला अफसरों की लापरवाही साफ तौर पर झलकती है। अपने पति को खोने के बाद गहरे सदमे और दुख में दो बच्चों की जिम्मेदारी और उनके मासूम सवालों से जूझ रही विनीता काम्टे को मुम्बई पुलिस की संवेदनहीनता से रू–ब–रू होना पड़ा। सारा देश जब अशोक काम्टे की शहादत को याद कर रहा था और मुम्बई पुलिस के मुखिया उनकी शहादत पर गर्व कर रहे थे। उसी वक्त मुम्बई पुलिस ने विनीता को उनके पति की पोस्टमॉर्टम रिपोर्ट देने से इन्कार कर दिया। बार–बार गुहार लगाने के बाद भी जब विनीता को मुम्बई पुलिस ने रिपोर्ट नहीं दी तो उसने यह ठाना कि अपने पति की मौत से जुड़े तथ्यों का हर हाल में पता लगाना है। उसके मन के कोने–अंतरे में अब भी यह उम्मीद बची थी कि उसके पति ने जिस महकमे की सेवा करते हुए अपनी जान तक दे दी उस मुम्बई पुलिस से मदद मिलेगी। लेकिन जैसे–जैसे वक्त बीतता गया मुम्बई पुलिस ने तथ्यों को छुपाने और विनीता काम्टे को परेशान करने की तमाम कोशिशें की। मुम्बई पुलिस द्वारा खड़ी की गई तमाम बाधाओं और कोशिशों के बावजूद विनीता निराश नहीं हुई बल्कि और दृढ़ता के साथ सच को सामने लाने में जुट गई। संवेदनहीन मुम्बई पुलिस के आला अधिकारियों ने इस बात की जरा भी परवाह नहीं की कि जिस अफसर ने अपनी जिम्मेदारियों से आगे जाकर, अपनी जान हथेली पर लेकर पुलिस फोर्स और देश के लिए अपनी कुर्बानी दी, जिसने अपनी गोली से आतंकी अजमल कसाब को जख्मी किया, उसकी पत्नी के साथ कैसा व्यवहार किया जाए।

26 नवम्बर की उस काली रात जब मुम्बई पुलिस के तीन जाबांज अफसर एटीएस चीफ हेमंत करकरे, पूर्वी जोन के एडिशनल कमिश्नर अशोक काम्टे और एनकांउटर स्पेशलिस्ट विजय सालस्कर–पाकिस्तानी आतंकवादी आमिर अजमल कसाब और इस्माइल की गोलियों के शिकार बने तो मुम्बई पुलिस के कुछ आला अधिकारियों की तरफ से यह बात फैलाई गई कि वो तीनों 'हेडलेस चिकन' की तरह मुम्बई की सड़कों पर घूम रहे थे। इस वजह से वो आसानी से आतंकवादियों की गोलियों के शिकार बने। लेकिन विनीता ने अपनी इस किताब में यह साबित किया है कि ये तीनों जाबांज अफसर एक साथ नहीं थे और ना ही ये बेवजह मुम्बई की सड़कों पर घूमते हुए अचानक आतंकवादियों की गोलियों के शिकार हुए। अशोक काम्टे तो पूर्वी जोन के इंचार्ज थे और जिस इलाके में आतंकवादियों ने हमला किया वह उनके अधिकार–क्षेत्रा से बाहर था। काम्टे को यह निर्देश दिया गया कि वह स्पेशल ब्रांच के दफ्तर के करीब पहुँचें जिसके पास आतंकवादियों के होने की आशंका थी। दूसरी बात यह है कि शुरूआत में एंटी टेररिस्ट स्कवॉड के चीफ हेमंत करकरे और विजय सालस्कर भी एक साथ नहीं थे। हेमंत करकरे को जब यह पता चला कि आतंकवादियों ने मुम्बई के विक्टोरिया टख्रमनस रेलवे स्टेशन पर हमला कर दिया है तो वो सीधे स्टेशन पर जा पहुँचे। हमारे जेहन में अब भी वीटी स्टेशन पर करकरे की बुलेट प्रूफ जैकेट पहनते हुए तस्वीर ताजा है। टीवी चैनलों पर यह फुटेज प्रमुखता से दिखाया गया था और अब भी जब करकरे की बात होती है तो वही तस्वीर दिखाई जाती है। वीटी पहुँचने पर करकरे को जब यह पता चला कि आतंकवादी कामा अस्पताल की तरफ चले गए हैं तो वो कामा अस्पताल के करीब जा पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही हेमंत करकरे ने पुलिस कंट्रोल रूम को रात ग्यारह बजकर चौबीस मिनट पर रेडियो सन्देश भेजा कि– ''हम कामा अस्पताल पहुँच गए हैं। यहाँ फायरिंग और ग्रेनेड ब्लास्ट हो रहे हैं। हमें कामा अस्पताल को घेर लेना चाहिए। हम लोग एसबी–2 दफ्तर की तरफ हैं। एक पुलिस टीम को कामा अस्पताल के सामने की तरफ से भेजिए। इस बात का खास ध्यान रखा जाना चाहिए कि सामने की तरफ से भेजे जाने वाली फोर्स और अपने सहयोगी के साथ

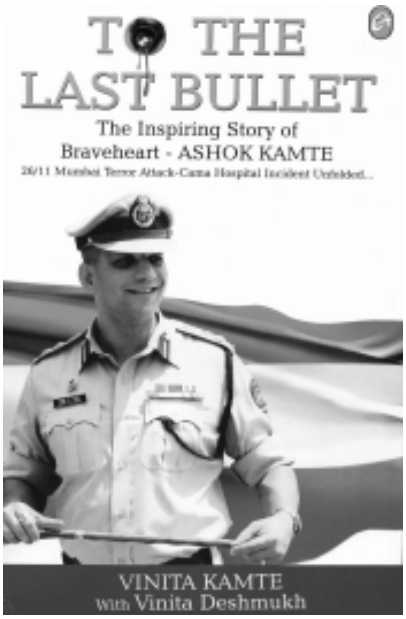

क्रास फायरिंग में ना फँसे। साथ ही वहाँ मौजूद के एल प्रसाद से कहिए कि वो सेना से उनके कमांडो भेजने के लिए अनुरोध करें।'' रात ग्यारह बजकर अट्ठाइस मिनट पर हेमंत करकरे ने फिर से एक बार अपनी योजना कंट्रोल रूम को समझाई जिसे कंट्रोल रूम ने ग्यारह बजकर तीस मिनट पर नोट करने का संदेश भी भेजा, जो कि रिकॉर्ड पर मौजूद है।

यह वह वक्त था कि जबकि पूरा देश और खासतौर पर मुम्बई पुलिस यह भाँप नहीं पा रही थी कि यह आतंकवादी हमला है लेकिन एटीएस चीफ हेमंत करकरे ने इसको भाँपते हुए न केवल आतंकवादियों को घेरने की योजना बना डाली बल्कि आर्मी के कमांडो मँगवाने की रणनीति पर भी काम शुरू कर दिया। विनीता ने अपनी इस किताब में पुलिस के लॉग रिकार्ड से यह भी साबित कर दिया कि करकरे की बात पुलिस कंट्रोल रूम में बैठे अधिकारियों ने सुनी जरूर लेकिन उस पर न तो कोई कार्रवाई की और न ही कोई अतिरिक्त पुलिस फोर्स कामा अस्पताल के सामने की तरफ से भेजी गई। नतीजा यह हुआ कि आतंकवादी इस्माइल और अजमल कसाब फायरिंग करते हुए कामा अस्पताल के फ्रंट गेट से होते हुए रंगभवन लेन में पहुँच गए। रास्ते में उन दोनों आतंकवादियों ने एक होंडा सिटी पर ताबड़तोड़ फायरिंग की। इसकी सूचना भी पुलिस कंट्रोल रूम को दी गई लेकिन कामा अस्पताल से दो मिनट की दूरी पर मौजूद पुलिस मुख्यालय से कोई रेस्पांस नहीं मिला। इस तरह की लापरवाही से मुम्बई पुलिस के कामकाज के तरीके पर गम्भीर सवाल खड़े होते हैं।

लगभग आधे घण्टे के इन्तजार के बाद काम्टे, सालस्कर और करकरे ने आतंकवादियों के खिलाफ ऑपरेशन शुरू करने की योजना बनाई। उन्हें इस बात का तनिक भी आभास नहीं था कि करकरे के अनुरोध पर कंट्रोल रूम सो रहा है। जब बारह बजकर एक मिनट पर तीनों जांबाज अफसर रंगभवन की तरफ से आगे बढ़े तो काम्टे ने सड़क के किनारे की झाड़ी में हलचल देखकर गाड़ी से ही पोजीशन लेकर अपने ए.के.47 से उस दिशा में ताबड़तोड़ फायरिंग शुरू कर दी। आतंकी कसाब अशोक की गोलियों से जख्मी हुआ जिसकी वजह से उसे बाद में पकड़ना आसान हो पाया। लेकिन वहाँ मौजूद दूसरे आतंकवादी इस्माइल ने पोजीशन लेकर फायरिंग की और तीनों अफसरों को अपनी गोलियों से भून डाला। इसके बाद इस्माइल और कसाब ने तीनों जख्मी पुलिस अधिकारियों को उनकी ही गाड़ी से खींचकर नीचे फेंक दिया और उनकी क्वालिस लेकर फरार हो गया। तीनों अफसर बारह बजकर चार मिनट से बारह बजकर उनचास मिनट तक सड़क पर तड़पते रहे, लेकिन पुलिस कंट्रोल रूम में बैठे पुलिस के आला अधिकारियों ने एक बार भी इस ओर ध्यान नहीं दिया कि उनके तीनों अफसर, जो कामा अस्पताल के पास हैं, उनका क्या हुआ। अगर समय रहते कट्रोल रूम में मौजूद अधिकारियों का ध्यान उन पर चला जाता और तीनों को इलाज मिल जाता तो शायद वे बच सकते थे। क्योंकि चालीस मिनट बाद जब सालस्कर को अस्पताल ले जाया गया तो उनकी साँसें चल रही थीं। सवाल यह उठता है कि जब कंट्रोल रूम को यह मालूम था कि तीनों पुलिस अफसर कार्रवाई के लिए तैयार हैं तो उनकी योजना पर अमल करने के लिए पुलिस फोर्स मुहैया क्यों नहीं कराई गई। कंट्रोल रूम में तैनान अफसरों ने कामा अस्पताल के फ्रंट साइड से पुलिस फोर्स क्यों नहीं भेजी। कंट्रोल रूम ने अपनी लापरवाही से दोनों आतंकवादियों को न सिर्फ निकल जाने का मौका दिया बल्कि यही लापरवाही तीन जांबाज अफसरों के लिए जानलेवा बन गई।

विनीता काम्टे ने अपनी इस किताब में इस ओर भी इशारा किया है कि मुम्बई पुलिस की तरफ से लगातार यह बात छुपाने की कोशिश की गई कि अशोक काम्टे की गोली से आतंकवादी कसाब जख्मी हुआ। जब विनीता ने पुलिस से अपने पति की मौत के बारे में जानकारी माँगी तब भी उसकी राह में रोड़े अटकाए गए। लेकिन सूचना के अधिकार ने मुम्बई पुलिस को उस रात अफसरों और कंट्रोल रूम की बातचीत का ब्यौरा देने पर मजबूर कर दिया जिससे इन लापरवाहियों का राज खुला। इस पूरी किताब में उस वक्त कंट्रोल रूम के इंचार्ज और क्राइम ब्रांच के ज्वाइंट कमिश्नर राकेश मारिया पर भी संगीन इल्जाम हैं। विनीता का कहना है कि मारिया ने बारह बजकर छप्पन मिनट पर पुलिस कमिश्नर से हुई बातचीत में करकरे की लोकेशन के बारे में अनभिज्ञता क्यों जताई जबकि करकरे ने पुलिस कंट्रोल रूम को ग्यारह बजकर चौबीस मिनट पर ही अपने कामा अस्पताल के पास होने की सूचना दे दी थी। विनीता का दूसरा आरोप है कि मारिया ने इस बात से इन्कार क्यों किया कि उसने ही काम्टे को कामा अस्पताल के पास बुलाया था जबकि कॉल लॉग इस बात की चीख–चीखकर गवाही दे रहे हैं।

इन लापरवाहियों के अलावा इस किताब में विनीता ने अशोक काम्टे की मौत के बाद अपने बेटे अर्जुन की बेहद हिला देने वाली प्रतिक्रिया को कलमबद्ध किया है। किताब के दूसरे हिस्से में अशोक काम्टे के कैरियर और उसके परिवार के बारे में विस्तार से लिखा है। अशोक काम्टे की जहाँ भी पोस्टिंग हुई वहाँ उन्होंने अपने व्यवहार और दिलेरी से उस इलाके के लोगों का दिल जीत लिया।

इस किताब से मुम्बई पुलिस की संवेदनहीनता और एक महिला का अदम्य साहस एक साथ सामने आता है, जिसने तमाम दिक्कतों और दुख के बावजूद न केवल एक लड़ाई लड़ी बल्कि अपने पति की बहादुरी और मुम्बई पुलिस के आला अधिकारियों की घोर लापरवाही को बेनकाब किया। हमले के दौरान मुम्बई पुलिस की लापरवाहियों की जाँच करने वाली रामप्रधान कमिटी की रिपोर्ट भारी हंगामे के बीच महाराष्ट्र विधानसभा में पेश तो कर दी गई है। उस रिपोर्ट में तत्कालीन पुलिस कमिश्नर हसन गफूर की कार्यप्रणाली पर तो कई सवाल खड़े किए गए हैं लेकिन विनीता ने जो आरोप राकेश मारिया की भूमिका पर लगाया है उस बारे में यह रिपोर्ट भी खामोश है। विनीता काम्टे की यह किताब इस अर्थ में भी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें एक ऐसी फोर्स की कार्यप्रणाली पर सवाल खड़े किए हैं जो देश की बेहतरीन पुलिस फोर्स होने का दावा और दिखावा दोनों करती है। घटना प्रधान इस किताब में शैली और भाषा गौण हो जाते हैं। क्योंकि घटनाएँ इतनी फोर्सफुल हैं कि पाठकों का ध्यान न तो भाषा पर जाता है न ही शैली पर। लेकिन मनुष्यता और संवेदनशीलता यहाँ कठघरे में है।

टू द लास्ट बुलेट, विनीता काम्टे, अमेय प्रकाशन, पुणे, मूल्य : 300 रु.

321–बी, शिप्रा सनसिटी, इन्दिरापुरम, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश 201014, मो. 9871697248

दिल्ली में पिकासो लीला

कुबेर दत्त

कुछ वर्ष पहले नई दिल्ली स्थित राष्ट्रीय संग्रहालय में विश्व प्रसिद्ध महान चित्राकार–शिल्पकार, पाब्लो पिकासो के सुदीर्घ जीवन और कर्म से सम्बन्धित सामग्री की विशाल प्रदर्शनी लगी थी। उसमें उनकी अनेक मूल पेंटिंग, शिल्प, ग्राफिक, पोस्टर, पत्रा, डायरी–अंश और उनके घटनापूर्ण जीवन से जुड़े

फोटोग्राफ भी थे। वह पिकासो की एक विराट दुनिया थी, जिसमें न सहजता से प्रवेश किया जा सकता था, न बाहर आया जा सकता था। वह एक अछोर दुनिया थी, जैसे कबीर की दुनिया थी। मुझे कबीर और पिकासो में गजब का साम्य नजर आता रहा है। दोनों अबूझ पहेली भी थे और सबूझ कला–चिंतन–महासागर भी। उस प्रदर्शनी पर मैं हद से हद 2–3 आधे–आधे घंटे के सुगठित कार्यक्रम बनाने की सोच रहा था, लेकिन जैसे–जैसे पिकासो–लीला में प्रवेश किया तो भौंचक रह गया। वहाँ तो एक असमाप्त खेल था, अनेक महाकाव्य थे, बिना 'दि एंड' के कथाचित्रा चल रहे थे, न गिने जा सकने वाले मंच थे जिन पर निरन्तर प्रस्तुतियाँ हो रही थीं, उसके रचना–जगत के अणु–परमाणु में अनहद गूंज रहा था, कई दिशाओं में कबीर और कुमार गंधर्व की जुगलबंदी चल रही थी, कुन्हकुट्टी वैद्यनाथन के अनेक वाद्यवृंद बज रहे थे, रंगों के झंझावात थे. ...तो कहीं सफेद, मटमैले, स्लेटी, भूरे महाविस्तार थे जिनमें छोटे–छोटे जुगनू चमकते थे। अनेक स्मृतियाँ थीं, अनेक प्रतिस्मृतियाँ, अनेक भूमंडल, अनेक विश्व, अनेक खगोल और अनगिन ब्रह्मांड...।

पिकासोमय इतना होता चला गया कि 45–50 हजार रुपयों में उससे सम्बन्धित पुस्तकें खरीद डाली गईं, दुनियाभर के बड़े संग्रहालयों से उनकी कृतियों के प्रिंट कमीशन किए गए। देशी–विदेशी कला–मर्मज्ञों के बयान रिकॉर्ड किए गए, फ्रांस के कुछ युवा फिल्मकारों द्वारा बनाई गई एक फिल्म का प्रिंट मँगाया गया, जिसमें केवल अंडरवियर पहने, सिगरेट फूँकते पिकासो हैं जो लम्बे से ब्रश से एक कसे हुए बड़े से फ्रेम पर चित्रा बना रहे हैं। सफेद फ्रेम पर काले चित्रा....। एक वह फीचर फिल्म भी मँगाई गई जो पिकासो महान की जिन्दगी पर आधारित थी।

....नतीजा यह कि केन्द्रीय कार्यक्रम निर्माण केंद्र, दूरदर्शन के खेलगांव स्थित परिसर में एक पिकासो प्रकोष्ठ ही बन गया जहाँ उससे जुड़ी सामग्री सहेज कर रखी गई। सामग्री का पारायण, प्रक्षेपण, अध्ययन हुआ। अनेक फाइलें बनीं, तरह–तरह के नोट्स लिए गए। आलेखों की फाइलें बनीं। शोध–पत्रा बनाए गए। पटकथा रची गई। क्रमवार

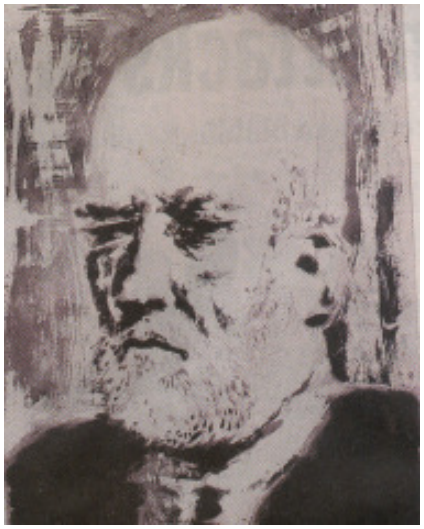

संपादन शुरू हुआ और एक के बाद एक 70 खंड बन गए जिनमें 15–20 परिशिष्ट भी थे। एक वर्ष से ज्यादा हफ्तावार इस पिकासो–शृंखला का प्रसारण हुआ। यह एक तरह का रिकॉर्ड था।

....बचपन से ही चित्राकला में मेरी रुचि थी। उम्र के कुछ हिस्सों में यह रुचि बीच–बीच में फलीभूत भी होती थी, रेखाओं–रंगों के जरिए, कटपीस के जरिए, चीजों के तोड़–मरोड़ के जरिए। मिट्टी और लकड़ी के शिल्प–निर्माण के जरिए, कोलाज के जरिए और फर्श पर लीपने–पोतने–उकेरने के जरिए। मगर पिकासो–लीला में प्रवेश करने के बाद तो जैसे पाताल–तोड़ किस्म का जुनून हो गया जो आज तक तो थमा नहीं और छोटे–बड़े चित्रों–संयोजनों की संख्या 70 हजार से अधिक हो गई। लगता है, जो अभी होना है, यह उसका 5–7 प्रतिशत है। यह प्रतीति अति यथार्थवादी लगती है पर लगती तो है। तो....दिल्ली की पिकासो–लीला पर लौटें। पिकासो की यह प्रदर्शनी नई दिल्ली स्थित 'स्पेनिश ऑफिशियल लेंग्वेज एंड कल्चरल

सेंटर' में लगी थी। प्रदर्शनी कई मायनों में विशिष्ट थी। 1930 के दशक में, जब पिकासो प्रसिद्धि के शीर्ष पर थे। उन दिनों उनके प्रिय विषय थे–व्यक्तिचित्रा, नग्न स्त्राी देह और आध्यात्मिक चिंतन। इन तीनों विषयों से संबंधित उनके अनेक प्रसिद्ध चित्रा प्रदर्शित थे। कुछ का जिक्र करूँ–1. दर्पण के सामने स्त्राी (1932), 2. बॉल के साथ समुद्र–स्नान (1932), 3. फूल के साथ स्त्राी (1932), 4. गुएर्निका (1937), 5. नाव के साथ माया (1938), 6. रात में मछली का शिकार (1939) आदि।

इनके साथ वह विशेष शृंखला भी थी, जिसे नाम दिया गया था 'वोल्लार्द सुइट'।

हरियाली से कोहरे में

13 फरवरी, 2010 को चंडीगढ़ में एक बहुत बड़े भाषाविद्, व्यंग्यकार और रचनाकार का निधन हो गया, ये थे संसारचंद। वे चौरानवे वर्ष के थे मगर अंत तक उनका जीवन बेहद नियमित और अध्ययन–सृजन में रमा हुआ जीवन था।

चंडीगढ़ में उनका एक विशाल, साफ–सुथरा घर था। उस घर में किताबें ही किताबें थीं। हजारों किताबें। हर विषय की किताबें। वे इतने लोकप्रिय और ग्राह्य थे कि अनेक लोग तो उनके घर पुस्तकों का अध्ययन करने ही आते थे। किताबें वे किसी को प्रायः देते नहीं थे मगर कोई उनके घर में बैठकर ही उनका अध्ययन करे तो वे हमेशा तत्पर रहते थे। उनका घर एक बड़ा पुस्तकालय ही था। उनके अध्ययन कक्ष में भी पुस्तकें ही पुस्तकें थीं और आगंतुकों के बैठने के लिए अनेक कुर्सियाँ। लोगों के आने के समय पर कोई पाबंदी नहीं। डॉ. संसारचंद ने अनेक शोधार्थियों की मदद की। वे लेखकों की तरफ से एक मायने में निराश थे। वे यह देखकर दुखी रहते थे कि अधिकांश लेखक एक–दूजे का लिखा नहीं पढ़ते और पढ़ते भी हैं तो बस कहानी–उपन्यास, कविता, आलोचना। वे शोधपरक ग्रंथ लगभग नहीं पढ़ते।

दुख की बात है कि पढ़े–लिखों की चमकदार दुनिया उन्हें बिसरा चुकी थी मगर इसका मलाल डॉ. संसारचंद को नहीं था। कहा करते थे–अरे भाई, मेरी क्या हैसियत, यहाँ तो कबीर को 600 वर्ष भूले रहे पढ़े–लिखे लोग! मुझे चिन्ता बस एक बात की है कि मेरी पुस्तकें बची रहेंगी या नहीं! उनकी अनेक फुटकर रचनाएँ और लेख हैं, जिन्हें प्रकाशित होना चाहिए। एक संवेदनशील अध्येता, ज्ञान–पंडित, बड़ा लेखक–चिन्तक, भाषाविद् अपने सृजन–परिसर की हरियाली से कोहरे में चला गया....।

तमिलनाडु से दुनिया तक का सलमा का सफर....

कल्पना करना यदि असम्भव नहीं, तो मुश्किल जरूर है कि तमिलनाडु के एक निम्नमध्यवर्गीय परिवार में जन्मी एक कन्या, जिसकी पढ़ाई 9वीं कक्षा के बाद इसलिए रोक दी गई कि उसके समुदाय के धर्मगुरुओं ने कहा कि लड़कियों की पढ़ाई नहीं होनी चाहिए उन्हें घर बैठना चाहिए, वह आज विश्वस्तर पर एक चर्चित नाम है। उसका असली नाम है रोक्किया। मगर लेखन जगत में वह अब सलमा के नाम से ख्यात है।

धर्मगुरुओं के फरमान और परिवार के सख़्त दबाव में रोक्किया की स्कूली पढ़ाई तो रुक गई लेकिन ज़हनी पढ़ाई और संवेदनशील मन की उथलपुथल बनी रही। वह बचपन से तमिल में छोटी–छोटी कहानियाँ लिखती थी। ये कहानियाँ उसके आजूबाजू घट रही घटनाओं पर केन्द्रित थीं। बाद में उसने लम्बी कहानियाँ भी लिखना प्रारम्भ किया लेकिन इसका विकास उपन्यास–लेखन के रूप में हुआ। 'आधी रात के कई घंटे बाद' नामक उसका उपन्यास आज आधुनिक तमिल साहित्य की महत्वपूर्ण रचना है। उसकी कहानियाँ भी प्रशंसित होती रही हैं।

किसी को पता नहीं था कि सलमा एक छद्म नाम है और कि असली नाम तो रोक्किया है। न उसका परिवार जानता था न आसपड़ोस।

शादी के बाद भी उसका लिखना–पढ़ना जारी रहा। इसी बीच उसने कविताएँ भी लिखना शुरू कर दिया। इस क्षेत्रा में भी उसे कामयाबी मिली। ये एक विद्रोही मुस्लिम कवयित्राी की कविताएँ थीं जो कथाकार–

उपन्यासकार के रूप में पहले ही से ख्यात थी। रूढ़िवादी घरों में भी चोरी–छिपे उसका साहित्य पढ़ा जाता था। प्रगतिशील, खुले विचारों के मुस्लिम समुदाय में तो उसका सम्मान था ही। वह एक सामाजिक व्यक्तित्व बन गई। एक संस्था 'ज़ुबान' ने उसकी भरपूर मदद की। इस संस्था का अपना एक प्रकाशन भी है। इन्होंने ही सलमा के साहित्य का प्रकाशन किया है।

नाम की असलियत खुलने पर बात प्रेस तक, टी.वी. तक पहुँची और तमिलनाडु के पाठकों ने, साहित्यकारों ने पहली बार 'सलमा' का चेहरा देखा। दरम्याने कद की, हल्के सांवले रंग की सलमा के चेहरे पर

आत्मविश्वास तो है ही, एक आत्मीय मुस्कान भी है। उसकी धीर–गम्भीर, अनुभव–पगी आँखों में गहराई है। उसका चेहरा 'जाना–पहचाना' लगता है।

उसकी कहानियों और उपन्यास का अनुवाद लक्ष्मी होल्म्सटोर्म्स ने किया है। जल्द ही उसकी कविताओं का संग्रह भी सामने आनेवाला है। उसकी कहानियाँ, उपन्यास और अब कविताएँ अंग्रेजी के अलावा विश्व की कई भाषाओं में अनूदित हो चुके हैं, हो रहे हैं। बताती है सलमा– ''लक्ष्मी ने हमेशा ही मेरी रचनाओं के स्तरीय अनुवाद किए हैं। वे बहुत संजीदा और संवेदनशील हैं। मेरे अंतर्मन को और पीड़ित समाज के मानस को भलीभांति समझती हैं। जहाँ तक मेरी कविताओं की बात है–वे यों तो आत्मपरक लग सकती हैं मगर उनमें वंचितों–शोषितों का दर्द है। मेरी छोटी–बड़ी कविताओं में भारतीय निम्न मध्यवर्गीय–निम्नवर्गीय स्त्री की व्यथा–कथा तो है ही, पढ़े–लिखे, सुविधा–सम्पन्न परिवारों की स्त्रियों के साथ होनेवाले दुर्व्यवहार के अक्स भी हैं। आप कह सकते हैं कि मैं 'नारीवादी' हूँ पर ठप्पादार नारीवादी नहीं हूँ। सामाजिक मर्यादाएँ बुरी नहीं होतीं, जैसे कि मर्दानगी को झेलना बुरा है। स्त्री और पुरुष एक दूजे के सहारे तो हो सकते हैं, गुलाम नहीं। अस्तित्व और अस्मिता दोनों की है और उनका आदर आवश्यक है।''

उल्लेखनीय है कि दुनिया की वे कई संस्थाएँ जो मानवाधिकारों के लिए अंतरराष्ट्रीय स्तर पर आन्दोलन चला रही हैं उन्होंने सलमा को अपने देश में, अपनी संस्था के मंच पर आकर व्याख्यान देने का न्योता भेजा है। जल्दी ही सलमा अमरीका की ऐसी ही एक संस्था के निमंत्राण पर वहां जा रही हैं।

आज सलमा न सिर्फ लेखन–चिन्तन की दुनिया का बड़ा नाम है बल्कि स्त्री के पक्ष में रचनात्मक हस्तक्षेप करने वाली और आवाज बुलंद करने वाली एक मजबूत स्त्री है। हमने सलमा से फोन पर चेन्नै में संपर्क किया और उनसे उनकी कुछ तमिल कविताएँ मांगी जो हमें मिलीं।

सुन ओ मेरे पति! अरे ओ पुरुष!
जिस घर में रहती हूँ
मेरा नहीं, तुम्हारा है;
हैं जो मेरे पद्चिह्न
वे नहीं हैं साक्षी मेरे यहां रहने के...

ये तुम्हारा घर
इसकी सुख–सुविधाएं
मेरे भीतर जगाती हैं
बाहर की दुनिया का डर
हर घड़ी, घिरी अनजान घबराहट से
खुद पर हावी अविश्वास...
कड़ी धूप में
मूसलाधार बारिश में
अन्य समय से अधिक
घर में रहने से अधिक
घर से बाहर
मेरे साथ साथ निकलती हैं
तुम्हारी हिदायतें
मेरे कानों में बजती हैं
बीमार है
तन और मन...

तुम–1
तुम्हारे बारे में मेरे खयालात
मेरे भीतर जगाते हैं
दुनिया के इतर पुरुषों के
घृणित बिम्ब

तुम–2
तुम्हारे द्वारा चीर कर
पैदा हुए
हमारे बच्चों का भविष्य निर्भर करता है
मेरे अच्छे चाल–चलन
और सेवा वृत्ति पर...

तुम–3
तुम्हारे कानों में
न पड़ने के लिए
मेरी आवाज नहीं
मेरी चीखें हैं...

उपर्युक्त, मूल तमिल कविताओं का हिंदी में अनुवाद मेरी पत्नी श्रीमती कमलिनी दत्त ने किया है जिनकी मातृभाषा तमिल है लेकिन जिन्होंने हिंदी साहित्य में उच्च अध्ययन किया है और शोध भी...।

159, आकाश दर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज–I, दिल्ली–110091, मो. 09868240906

महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

चार खंडों में

हिंदी साहित्य का मौखिक इतिहास

(स्मृति–संवाद)

शोध एवं संपादन
नीलाभ

मूल्य
250/– (प्रति खंड)
1000/– (चारों खंड)

एकमात्रा वितरक
शिल्पायन
10295, वैस्ट गोरख पार्क,
शाहदरा, दिल्ली–110032

भय्या समाज और भोजपुरी सिनेमा

रामजी यादव

भोजपुरी सिनेमा के लिए यह सुखद समाचार है कि अब बड़े–बड़े सिनेमाकार और कम्पनियाँ भोजपुरी में फिल्में बनाने के लिए उत्कंठित हो गई हैं। पिछली कुछ फिल्मों की सफलता ने फिल्म विशेषज्ञों को इस नए बाजार के बारे में सचेत कर दिया और फिर नए–नए आकलन किए जाने लगे हैं। एक सर्वेक्षण के मुताबिक भारत और विदेशों में भोजपुरी के बाजार को देखते हुए आगामी वर्षों में सैंकड़ों करोड़ की फिल्म परियोजनाएँ रूपाकार लेने लगेंगी। लेकिन एक बाजार के रूप में भोजपुरी सिनेमा का विकास उसे किन्हीं महान परिणतियों तक पहुँचाएगा यह सर्वथा संदिग्ध है। पिछले अनुभवों तथा वर्तमान की कुछ फिल्मों को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि अभी तक भोजपुरी सिनेमा एक खराब सांस्कृतिक उपलब्धि से अधिक कुछ नहीं है।

भोजपुरी सिनेमा के संकीर्ण दायरे कामुक मनोरंजन और सांस्कृतिक महत्त्व पर बात करने से पहले इस बात पर विचार कर लेना ज्यादा जरूरी है कि भोजपुरी मानस क्या है और उसकी सांस्कृतिक आवश्यकताएँ क्या हैं? क्या भोजपुरी समाज अपने सामने परोसे गए सिनेमा को सहज स्वीकार कर रहा है या अपने जीवन की चुनौतियों के समानान्तर वह कुछ और चाहता है? भोजपुरी सिनेमा से जुड़े लोग उसे क्या देना चाहते हैं और इस अवदान की कीमत वे किस रूप में वसूल रहे हैं?

किसी भी अन्य भौगोलिक प्रदेश के मानस की तरह भोजपुरी मानस भी विभिन्नताओं और जटिलताओं से परिपूर्ण हैं जिसे स्पष्ट भाषा में हम वर्गीय मनःसंरचना कह सकते हैं। विभिन्न सामाजिक स्थितियों और सीमाओं में रहने वाले लोगों की सांस्कृतिक आवश्यकताएँ जाहिर है अलग–अलग हैं लेकिन अलगाव में रहने वाले व्यक्ति या समाज प्रायः वर्चस्वशाली व्यक्तियों और समाजों की संस्कृतियाँ स्वीकार लेने को अभिशप्त होते हैं। भोजपुरी समाज इसका ज्वलंत उदाहरण हैं। यह समाज अपनी मूल संरचना में जातिग्रस्त समाज है और इसे चलाए रखने के लिए स्थानीय और भारतीय जातिशास्त्रा आज भी सबसे प्रभावी उपागम है। बेशक स्थितियाँ बहुत तेजी से बदल रही हैं। फिर भी सांस्कृतिक व्यवहार में पुरानी बातें, मान्यताएँ और कुण्ठाएँ अभी बहुत कुछ पहले जैसी काम कर रही हैं। अखबारों में रोज–ब–रोज छपने वाली उत्पीड़न की घटनाओं से तो इसे देखा ही जा सकता है, दलित लेखकों द्वारा लिख जा रही कहानियों में व्यक्त भेदभाव के विवरणों में और भी स्पष्ट देखा जा सकता है। इन तथ्यों से यह काफी स्पष्ट हो जाता है कि भोजपुरी मानस अभी अपने आदिकाल से छुटकारा नहीं पा सका है। श्रम, श्रमिक, स्त्री, दलित, पिछड़े और बच्चे अभी भी पुरातन अभिशापों के शिकार हैं। इसके बाद यह भी साफ होने लगता है कि भोजपुरी मानस की सांस्कृतिक आवश्यकताएँ बहुत व्यापक और विविध आयामी हैं।

अगर भोजपुरी सिनेमा पर नजर डालें तो यह जानकर अत्यन्त निराशा होगी कि जिस व्यापक और विविधतापूर्ण समाज से वह मुखातिब है उससे संवाद कायम करने के लिए उसके पास कुछ नहीं है। सिवा कुछ धारणाओं के विजुअल रूपान्तरण के भौंडे और अधकचरे प्रयास के वह समाज में गया ही नहीं। गौरतलब है कि भोजपुरी सिनेमा अभी तक शुद्ध मनोरंजन के स्तर पर ही करता रहा है। हालाँकि वह शुद्ध मनोरंजन का भी साधन बन पाया है इसमें पर्याप्त सन्देह है। भोजपुरी समाज का एक उम्दा उदाहरण स्वर्गीय शैलेन्द्र की फिल्म **तीसरी कसम** है। हीरामन और हीराबाई संवेदना और सामाजिक धरातल पर

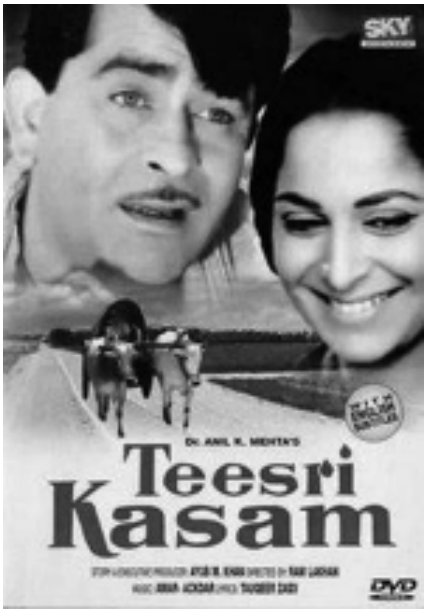

लगभग समान है लेकिन फिल्म का वर्चस्वशाली हिस्सा (जमींदार) उनके प्रेम करने के अधिकार का स्पष्ट हनन करता है। भोजपुरी मानस की यह अन्यतम अभिव्यक्ति है।

यह महज इत्तफाक नहीं है कि कुछ को छोड़कर लगभग सारी भोजपुरी फिल्मों को दर्शकों ने नकार दिया। हालाँकि हाल के दिनों में सफल होने वाली फिल्मों ने भोजपुरी समाज के दर्शकों की आकांक्षाओं की ठीक–ठाक अभिव्यक्ति की हो यह जरूरी नहीं। पिछले दिनों बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के कुछ गाँवों में वृत्तचित्रा की शूटिंग के दौरान मैंने ध्यान दिया कि यहाँ कुछ खास चीज वाले एलबम धूम मचाए हुए हैं। इन एलबमों में कुछ

भ्रष्टाचार की कहानियाँ थीं जिनके निशाने पर स्थानीय नेता थे। इन्हें पसन्द करने वाला वर्ग अधिकांश श्रमजीवी वर्ग था। युवा दर्शक इन कैरीकेचर से मजे ले रहे थे और इसी प्रक्रिया में लोकतन्त्रा का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा अपनी करनी से लोक में अनास्था बो रहा था।

अन्य कहानियों में शराब, अय्याशी और बड़बोलापन निशाने पर थे लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण कहानी थी पिता की आज्ञा के विरुद्ध लड़के का ससुराल जाना और माता–पिता को गुजरे जमाने की चीज की तरह ट्रीट करना। प्रायः इस भौगोलिक सीमा में संयुक्त परिवार की संरचना और उसे बनाए रखने का संघर्ष एक केन्द्रीय विचार है। भले ही कार्य–व्यवहार से सभी किसी–न–किसी स्तर पर इसके विरुद्ध चले जाते हों लेकिन सैद्धान्तिक रूप से इस आदर्श के विरुद्ध वे नहीं जाते। इसलिए ऐसी कहानियाँ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक लुका–छिपी के लिए सहज माध्यम बन जाती हैं। एक तरफ मर्यादा और वर्जनाएँ हैं दूसरी तरफ वैयक्तिक स्वतन्त्राता की चाह। लगता है इन एलबमों ने इस चाह को पंख दिए हैं। पिछले दिनों हरियाणवीं में बना एलबम 'हट जा ताऊ पाछे ने' को भी इसी सन्दर्भ में देखा जा सकता है।

लेकिन पिछले दिनों रिलीज हुई फिल्मों और एलबमों ने एक और महत्त्वपूर्ण वजह से सफलता पाई जिसका शाश्वत और केन्द्रीय विषय प्रेम था। हालाँकि प्रेम अपनी पुरानी गरिमा खोकर नया चोला ग्रहण कर रहा था। भोजपुरी फिल्मों में प्रेम एक ऐसे माध्यम के रूप में दिखाया गया जिस पर सवार होकर हिंदी, तमिल, अँग्रेजी आदि फिल्मों की संस्कृति आने लगी। दूरदराज के गाँव–कस्बों में बिकनी और स्लीवलेस, जींस टॉप और स्कर्ट में छिपकर प्रेम तड़फड़ाने लगा। प्रेम की प्रक्रिया में प्रेमी इतना उद्धृत होने लगा कि उसे इन वस्त्रों की मौजूदगी खटकने लगी। यह एक ऐसी बात थी जिसने युवा वर्ग को खास तौर पर लुभाया लेकिन फिल्मों ने वह चीज उन्हें नहीं दी जो दर्शक के रूप में उन्हें मिलनी चाहिए।

भोजपुर समाज की एक सबसे केन्द्रीय समस्या है पलायन और दूसरी सबसे बड़ी समस्या अविचलन है। इन दोनों समस्याओं की जननी एक जैसी ही आख्थक और राजनीतिक परिघटनाएँ हैं। जो लोग स्थानीय शोषण–उत्पीड़न से बचकर नए अवसरों की तलाश में शहरों और महानगरों में पलायन कर गए हैं या कर रहे हैं उनकी समस्याएँ और चुनौतियाँ तथा जो लोग हर हाल में अपनी पुरानी जगहों पर ही रह गए हैं उनकी समस्याएँ और चुनौतियाँ मिले–जुले रूप से भोजपुरी मानस का निर्माण करती हैं। इस पलायन और अविचलन के बीच एक सतत द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया काम कर रही है। जब लोकतन्त्रा में हम इस पर विचार करते हैं तो इस बात का हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि लोकतन्त्रा की दो सबसे बड़ी विशेषताएँ हैं जिनमें से दूसरी सबसे बड़ी विशेषता पहली को बहुत बड़ी हद तक नियन्त्रित करती है। लोकतन्त्रा की पहली सबसे बड़ी विशेषता व्यक्तिगत स्वाधीनता है और दूसरी सबसे बड़ी विशेषता व्यक्तिगत सम्पति और पूँजी के वर्चस्व के प्रति उसकी सर्वथा उदासीनता है। लोकतन्त्रा पूँजी के वर्चस्व को चुनौती नहीं देता और इसीलिए वह पूँजी के अनुचित विस्तार को भी नियन्त्रित नहीं करता। अनियन्त्रित पूँजी जब अपने विस्तार और वर्चस्व को अमली जामा पहनाती है तो कम और कमतर पूँजी वाले हिस्से की व्यक्तिगत स्वतन्त्राता को वह बहुत बड़ी हद तक नियन्त्रित करने लगती है।

दुर्भाग्य यह है कि यही वजहें भय्या समाज के लिए ढेर सारी आख्थक राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अवधारणाओं को जन्म देती हैं जो अपने आशय में ही बुरी अवधारणाएँ हैं। लाजिमी है कि जीवन के व्यापक क्षेत्रा में ये अवधारणाएँ काम कर रही हैं। भोजपुरी सिनेमा भी हमसे बचा नहीं है।

प्रारम्भिक दिनों (1962) में बनी भोजपुरी फिल्मों को काफी हद तक मान्यताओं, आस्थाओं और धर्म–कर्म के इर्द–गिर्द संकेन्द्रित देखा जा सकता है। ये सारे विषय भोजपुरी समाज के उच्च वर्गीय और वर्चस्वशाली समाजों से सीधे तौर पर जुड़े थे। यहाँ तक कि 1977 में बनी भोजपुरी की पहली रंगीन फिल्म **दंगल** में भी ऐसे वर्चस्व की स्थापना थी।

लेकिन भय्या समाज ने इसे नकार दिया। वह कहीं–न–कहीं अपने जीवन संघर्षों से जुड़ी चुनौतियों को भी पर्दे पर देखना चाहता था और उनसे जूझने के फिल्मी तौर–तरीकों को भी। बेशक गाँव की पृष्ठभूमि हो या शहर की लेकिन उसमें उसकी मौजूदगी एक जरूरी चीज थी जो सिरे से गायब थी। आखिर शादी–ब्याह, रीति–रिवाज, धर्म–काण्ड या सुहाग–मंगलसूत्रा कितने दिनों तक और कितने लोगों को अपने से जोड़ सकता है। जबकि एक तरफ विज्ञान और अबूझ प्रश्नों का उत्तर ढूँढ रहा है और इसके ठीक उलट भोजपुरी फिल्में अन्धविश्वास फैला रही हैं।

अपने संकीर्ण दायरे के बावजूद भोजपुरी सिनेमा एक व्यापक समूह से मुखाबित होने की योग्यता रखता है। उसका दर्शक वर्ग भारत का श्रमशील वर्ग है। उसका सांस्कृतिक महत्व इस बात में है कि उसके दर्शक और गुणग्राहक दूरदराज में फैले हुए हैं और उस सामाजिकता के प्रतीक हैं जो श्रमशील संस्कृति को बचाए हुए हैं। आज भी समाज अपने सुख–दुख बाँटने के लिए डायरी में नाम ढूँढकर फोन करने का प्रयास नहीं करता बल्कि अपने पड़ोसी ढूँढ लेता है। दूसरे उसके पास इतनी समृद्ध लोक संस्कृति की परम्परा है जो अभी भी उसके जीवन का मेरा घर होने की कूवत रखती है। बेशक फूहड़ और अश्लील प्रवृत्तियाँ वहाँ भी बुरी तरह हावी है परन्तु अभी भी उसका गौरवशाली हिस्सा मरा नहीं है। भय्या समाज का मौलिक भूगोल आज भी भारत का सबसे क्रान्तिकारी भूगोल है। वह जाति व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था, महाजनी शोषण, पुलिस, उत्पीड़न, अभाव गरीबी, लाचारी, बाढ़, सूखा, ठण्ड, भ्रष्टाचार, पलायन और अपसंस्कृतिकरण का सबसे अधिक शिकार है। अभी भी वह देश की अर्थव्यवस्था में सबसे पिछड़ा समाज है और अभी भी उसमें विरोध की सबसे प्रखर चेतना है। बाजार और साम्राज्यवाद उसे तोड़ रहे हैं और उसे विभाजित करने के लिए स्थानीय तौर–तरीकों का सबसे घातक इस्तेमाल कर रहे हैं। इस स्थिति में भोजपुरी सिनेमा एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक औजार के रूप में अपनी भूमिका अदा कर सकता है। लेकिन इस लक्ष्य को पाने के लिए उसे अपनी संकीर्णता को छोड़ना पड़ेगा और भय्या समाज से जुड़ने के लिए बहुत अधिक जद्दोजहद करना पड़ेगा।

द्वारा महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, क्षेत्रीय केंद्र (दूरस्थ शिक्षा), ई–47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्रा, फेज–II, नई दिल्ली–110020
मो. 9015634902

साहित्य कोलाहल

प्रज्ञाचक्षु

19वाँ विश्व पुस्तक मेला अभी सम्पन्न हुआ जिसमें पुस्तकों का लोकार्पण तथा गोष्ठियों–सम्मेलनों का भी एक लम्बा सिलसिला चला। एक हफ्ते से अधिक समय तक चले इस मेले में लोकार्पण इत्यादि के मौके पर अनेक हास्यास्पद स्थितियाँ भी पैदा हुईं। लगता था जैसे लेखक–लेखिकाओं में इस बात की होड़ लगी हुई थी कि जिसकी भी पुस्तक लोकाखपत नहीं हुई वह साहित्य के इतिहास से बाहर हो जाएगा। हालाँकि थोक भाव से लोकाखपत होने वाली पुस्तकों की चर्चा भी तमाम प्रायोजित खेलों के बावजूद लगभग नहीं के बराबर हुई।

सवाल यह उठता है कि इतना बड़ा पुस्तक मेला आज किस परिणति तक पहुँच पा रहा है। क्या घटती जा रही पाठक संख्या को रोकने तथा उसे फिर से बढ़ाने में भी इन मेलों तथा आयोजनों की कोई सार्थक भूमिका है? हम देखते हैं कि अपनी दुकानों पर बड़ी–बड़ी छूट देने वाले प्रकाशक पुस्तक मेलों में प्रायः नहीं के बराबर छूट देते हैं। हजारों ऐसे पाठक हैं जो तंगजेबी के चलते अच्छी पुस्तकों से वंचित रह जाते हैं। इसी मेले में कुछ ऐसे प्रकाशक भी शामिल थे जो विदेशी, खासकर रूसी साहित्य की पुस्तकें अत्यन्त किफायती मूल्य पर बेच रहे थे। जबकि व्यापक भीड़ खींचने के बावजूद तथाकथित बड़े प्रकाशन मुनाफे में कमी का रोना रो रहे हैं। यह पुस्तक मेला ऐसे कई सवाल छोड़ गया है। लेकिन कुछ प्रश्न इससे भी बड़े हैं मसलन यह भी कि भारत में पुस्तक–संस्कृति के विकास के लिए प्रकाशक, लेखक और मेलों के आयोजक वास्तव में क्या प्रयास कर रहे हैं?

❑

वैसे पुस्तक मेले में ही नामवर सिंह की चार पुस्तकों के बारे में खासी चर्चा रही जिन्हें राजकमल प्रकाशन ने छापा है। यह चर्चा इसलिए भी थी कि एक लंबे अरसे के बाद नामवर जी की छपी कोई पुस्तक आ रही है। वाचिक परम्परा का हिस्सा होने के बाद वे लगातार अपने बदलते बयानों के कारण चर्चा में रहे हैं तथा यह माना जाने लगा कि वे अपनी किसी भी स्थापना पर अडिग नहीं रहते। वास्तव में नामवर जी ने अपने वक्तव्यों से लोगों की इस धारणा को ही मजबूत किया है कि वे सभी को खुश रखना ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझते हैं, अपने निष्कर्षों पर अड़ना अब उनका स्वभाव नहीं रहा। क्या ये पुस्तकें इस धारणा को तोड़ने वाली साबित होंगी और हिंदी के इस शिखर आलोचक के मन के भीतर चल रहे जद्दोजहद को सामने लाएँगी? ऐसी जिज्ञासा हर आम व खास साहित्य प्रेमी में होनी स्वाभाविक है।

❑

प्रेमचन्द की एक आवक्ष प्रतिमा बनारस के पांडेयपुर चौराहे पर स्थापित की गई है जो उनके गांव लमही के रास्ते में पड़ता है। पांडेयपुर चौराहा कई कारणों से एक केन्द्र है जहाँ से आजमगढ़, गाजीपुर, जौनपुर और बनारस शहर के लिए सड़कें गुजरती हैं। प्रेमचन्द का महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'रंगभूमि' का स्थान भी पांडेयपुर ही है। पिछले दिनों उत्तर प्रदेश सरकार ने यह फतवा जारी किया कि प्रेमचन्द की मूखत को पांडेयपुर से हटाकर लमही भेज दिया जाए। इस बात का व्यापक रूप से विरोध हुआ। इस सम्बन्ध में एक तथ्य यह है कि पांडेयपुर चौराहे पर एक फ्लाई ओवर बनाया जाने वाला है। और यह मूखत इसके नीचे आ जाएगी। बनारस के संस्कृतिकर्मी और बुद्धिजीवी चाहते हैं कि इस मूखत को शहर में ही अन्यत्रा स्थापित किया जाए। प्रेमचन्द के नाम पर आज सैंकड़ों संस्थाएँ चल रही हैं और करोड़ों का सरकारी बजट जारी होता है। कितनी अजीब बात है कि जिस लेखक ने हिंदी का सिर सारी दुनिया में ऊँचा किया उसके नाम पर कोई स्मारक, पार्क या संग्रहालय बनाने की बजाय मूर्ति स्थापित करने की तैयारी ही चल रही है।

❑

विगत दिनों जयपुर में एक साहित्य समारोह का आयोजन हुआ। यह चौथा आयोजन था और इसमें दिल्ली तथा देश के दूसरे शहरों से लगभग दो सौ लेखकों ने शिरकत की। चार दिन तक चले इस मेले में अनेक रचनाएँ पढ़ी गईं। गीत–संगीत, सभा सेमिनार हुआ और इस प्रकार मेला आयोजन स्थल गुलो–गुलजार रहा। लेखकों ने पिकनिक का मजा लूटा। पेड़ों की छांव में बने चाय घर में धूप सेंकते अनौपचारिक चर्चाएँ कीं। कुल मिलाकर यह उत्सव धखमता साहित्य के सरकारी आयोजनों की शृंखला में एक कड़ी थी। कुछेक ने तो इसे अंग्रेजी तबके का आयोजन तक कह डाला। दरअसल ऐसी बातों के पीछे कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का

बोलबाला ही था जिसमें भारतीय भाषाओं के जेनुइन रचनाकारों के प्रति भेदभाव आम बात है और कुछ तथाकथित मठ–शठ इस बात का प्रदर्शन करते हैं कि वे विश्व साहित्य के अपरिहार्य हिस्से हैं। साहित्य से लुप्त होती जा रही संवेदना, लेखकीय ईमानदारी के कारण तथा सामाजिक सरोकारों को पार्श्व में धकेलने को प्रतिबद्ध इस दौर में यह संवाद अपनी जगह कायम है कि इस तरह के आयोजनों का औचित्य क्या है?

❑

साहित्य अकादेमी के साथ मिलकर दक्षिण कोरियाई इलेक्ट्रॉनिक कम्पनी सैमसंग ने टैगोर पुरस्कार की शुरूआत की है। जाहिर है इसे लेकर हिंदी जगत में तीखी प्रतिक्रियाएँ हुईं। यह और बात है कि साम्राज्यवाद और बहुराष्ट्रीयवाद के विरोध में कहने–लिखने वाले मुट्ठी भर लेखकों ने ही इस पर प्रतिक्रियाएँ दी और प्रदर्शन में शामिल हुए। सबसे मजेदार बात तो यह हुई कि ढेरों लेखक यह कहने में गर्मजोशी दिखा रहे थे कि पुरस्कार से पहले सैमसंग के टी.वी., फ्रिज, फोन का विराध करो। यह क्या कि सुविधा उनसे लो और संस्कृति अपनी ला दो। यह विडम्बना ही है कि एक महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर हिंदी के बुद्धिजीवी इतने बचकाने ढंग से सोचते हैं। लेकिन यह अत्यन्त दुखद है कि इस भाषा की प्रतिरोधक शक्ति लगातार नष्ट होती जा रही है। 'जनसत्ता' में शम्भुनाथ की टिप्पणी 'गुड़ और गुलगुले' के प्रकाशित होते ही इस विवाद ने एक दूसरा रूप ले लिया। लेकिन क्या इस सवाल का जवाब दिया जा सकता है कि टैगोर साहित्य पुरस्कार के विरोधी हिंदी के दिल्लीवादी लेखकों को 'बहुराष्ट्रीय' का हमला नजर आता है, 'राष्ट्रीय' घपला क्यों नहीं? दरअसल इस पूरे मामले में लोगों ने जिस तरह से निजी खुंदक निकालने की होड़ लगाई उससे किसी दार्शनिक की यह टिप्पणी बहुत कुछ कह जाती है कि गुलाम आपस में लड़ते हैं जबकि आजाद लोग अपने दुश्मन से लड़ते हैं। यदि सैमसंग पुरस्कार गलत है तो इसका पुरजोर विरोध किया जाना चाहिए और साहित्य अकादेमी जैसी सर्वोच्च भारतीय साहित्य की संस्था की स्वायतता की रक्षा की जानी चाहिए।

❑

तुर्की के मशहूर लेखक ओरहान पामुक को 2006 का नोबेल साहित्य पुरस्कार प्राप्त हुआ था। पामुक अपने लेखन में तुर्की अस्मिता और विश्व मानवता के अप्रतिम चितेरे के रूप में मौजूद हैं। उनके बारे में कहा जाता है कि वे पूर्व और पश्चिम की दो दुनियाओं के बीच एक सेतु की तरह हैं। बेशक इस उपन्यास की सौन्दर्य–संवेदना उसके इस्तांबुलीय संस्कारों से गहरे जुड़ी हैं लेकिन महान पाश्चात्य उपन्यासकारों की परम्परा में वह इतिहास, स्मृतियों तथा मानवीय जिजीविषा के अन्वेषण और चित्राण को तरजीह देता रहा। पामुक के महत्त्वपूर्ण उपन्यासों में 'द ब्लैक बुक', 'द ह्वाहट कैसल', 'माई नेम इज रेड', 'स्नो' तथा हाल ही में प्रकाशित 'द म्यूजियम ऑफ इन्नोसेंस' है। 'द ब्लैक बुक' में उन्होंने इतिहास की समस्या तथा इस्तांबुल के विभिन्न स्तरों के जीवन के जरिए उसकी भावनाओं को देखा है। 'माई नेम इज रेड' में पामुक ने एक पैनोरमा बनाने की कोशिश की है। 'स्नो' में उन्होंने संस्कृति को राजनीति के जरिए पाया है। अपने नए उपन्यास 'द म्यूजियम ऑफ इनोसेंस' में वे समकालीन समय में प्रेम के जरिए राष्ट्रीयता की भावना को जाँचने की कोशिश करते हैं। वास्तव में पामुक का सम्पूर्ण लेखन बहुस्तरीयता, सन्दर्भगख्रभता, स्वर बहुलता और बहुजातीय का समुच्चय है। पामुक का मानना है कि वे इस्तांबुल को ही लिख रहे हैं। वे शहर को प्यार करते हैं क्योंकि वहाँ रहते हैं। जिस शहर ने उन्हें निख्रमत किया है। तुर्की के प्रति अपने प्रेम का इजहार करते हुए वे कहते हैं कि वे तुर्क हैं और पूरे जीवन तुर्की में लिखना चाहते हैं। वे अभिव्यक्ति की स्वतंत्राता के पक्ष में और सेंसरशिप के खिलाफ न सिर्फ लेखकों का बल्कि आम नागरिक का भी दायित्व समझते हैं। पामुक कहते हैं कि यदि आप इस बारे में जानते हैं कि यह दुनिया कैसे चलाई जा रही है तो आप लोगों को बता सकते हैं। तब आप अधिक जिम्मेदार हो सकते हैं। उनका मानना है कि तुर्की लेखकों की पहली पीढ़ियाँ इस सन्दर्भ में ज्यादा समझदार थीं।

❑

लेखक संगठनों और उनकी कार्य पद्धति को लेकर इतना कहा जा चुका है कि अब नया कहने को कुछ बचा नहीं है। वैसे कुछ लोगों का तो यह मानना है कि लेखक संगठनों का अस्तित्व बीते जमाने की बात हो चुकी है। आमतौर पर यह कहा जाता है कि संगठन के पदाधिकारी पार्टी के एजेंडे को लागू करते हैं। जिससे लेखकों में एक घुटन और कुण्ठा पैदा होती है। वे लेखकीय अभिव्यक्ति की स्वतंत्राता को बाधित करते हैं दूसरी तरफ संगठनों के पदाधिकारी कहते हैं लेखक नितांत गैर जिम्मेदार, अवसरवादी और ढुलमुल होते हैं। यह अन्तख्रवरोध बहुत पुराना और व्यावहारिक है। स्वतन्त्राता के बाद, खासतौर से सातवें–आठवें दशक में इस परिदृश्य को हम बहुत स्पष्ट रूप में देख सकते हैं। खासतौर से अज्ञेय के कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम और उसके बाद का दौर कुछ ऐसा है कि सारे लेखकों ने छान–पगहा तुड़ाकर भाषा के जंगल में जाना ही श्रेयस्कर समझा। सवाल उठता है कि जिस स्तर की प्रतिबद्धता हमारे देश के लेखकों में पाई जाती है उससे किसी बड़े लेखक संगठन को चलाया जा सकता है? या लेखक संगठन वास्तव में लेखकों की संवेदना और रचनाशीलता को कुचल देते हैं? स्वतन्त्राता के पहले के तथा बाद के दौर के लेखकों तथा लेखक संगठनों के मौलिक चरित्रा की छानबीन करने से शायद इस सवालों के उत्तर ढूँढे जा सकते हैं। वैसे अज्ञेय जन्मशताब्दी के अवसर पर जिस तरह डॉ. नामवर सिंह और अशोक वाजपेयी ने अज्ञेय के प्रति अपना दृष्टिकोण बदला है, चकित करता है। वैसे मुक्तिबोध का मोहभंग पहले ही हो गया था।

❑

साहित्य अकादेमी के पुरस्कार समारोह के दौरान तेलुगु लेखक यार्ल गुड्डा लक्ष्मीप्रसाद के उपन्यास द्रौपदी को लेकर सभागृह में जिस तरह का उपद्रव हुआ वह किसी भी

रूप में साहित्य के लिए शुभ लक्षण नहीं है। उपद्रवियों का कहना था कि लेखक ने अपने उपन्यास में द्रौपदी का चित्राण अपमानजनक ढंग से किया है। हालाँकि यह कोई ऐसी बात नहीं है जिससे भारतीय संस्कृति पर कोई धब्बा लगता क्योंकि स्त्राी भारतीय संस्कृति में एक मांसल देह से अधिक महत्त्व नहीं रखती। लगता है जैसे पूरी संस्कृति स्त्राी देह के नए विश्लेषण की प्रक्रिया में विकसित हुई है। दक्षिण में कंब रामायण तथा उत्तर में वाल्मीकि रामायण में इस तरह के चित्राण अपनी सौन्दर्यात्मक वीभत्सता में मौजूद हैं। कुछ लोगों ने हालाँकि लेखक का बचाव किया कि लेखक ने द्रौपदी को यशस्वी और सम्पूर्ण नारी जगत के पर्याय के रूप में प्रशंसनीय ढंग से चित्रित किया है। इसके अतिरिक्त कुछ अफवाहें हवा में लटकती रही कि यह प्रसिद्धि की कोई युक्ति तो नहीं!!

❑

भारत सरकार जिस थोक भाव से पद्म श्री बाँटने का अभियान चलाती है उसमें कभी–कभी हास्य का कारुणिक दृश्य पैदा हो जाता है। पहला मौका निराला के समकालीन कवि आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्राी का है। उनसे पुरस्कार के नाम पर जिस तरह की औपचारिकताएँ पूरी करने के लिए कहा गया वह नितांत आपत्तिजनक और अपमानपूर्ण था। दरअसल पद्मश्री लेने वालों की जितनी लम्बी लाइन लगी हुई है और जितने भोंडेपन का प्रदर्शन हो रहा है वह दुखद है और सरकारी महकमों में कार्यरत अपढ़–दम्भी अफसरों कर्मचारियों को यह पता ही नहीं कि साहित्य–संस्कृति में किसकी क्या स्थिति है। उनके लिए सब धान बाइस पसेरी ही ठहरता है। जब प्रख्यात नाटककार बादल सरकार तथा उपन्यासकार कृष्णा सोबती को भी पद्म सम्मान देने की पेशकश की गई तो इन दोनों ही लेखकों ने इनकार कर दिया इस स्थिति में भारत सरकार के पढ़े–लिखे लोगों को अपने भीतर यह समझदारी पैदा करनी चाहिए कि साहित्य–संस्कृति में किसका क्या महत्त्व है।

❑

साहित्य अकादेमी ने हिंदी के वरिष्ठ कवि कुंवर नारायण और गुजराती के वरिष्ठ लेखक भुला भाई पटेल को महत्तर सदस्यता प्रदान की।

❑

यह लोहिया का जन्मशताब्दी वर्ष है और इस अवसर पर साहित्य अकादेमी ने तीन दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया। साहित्य पर लोहिया के प्रभाव को लेकर नामवर सिंह ने कहा कि लोहिया के बिना हिंदी साहित्य का इतिहास अधूरा है। यू. आर.अनन्तमूखत के अनुसार लोहिया भारत के आखिरी राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने अलोकप्रिय होने का साहस किया। सुरेन्द्र मोहन ने कहा कि लोहिया के जीवन और विचारों ने विभिन्न भाषाओं के साहित्यकारों को प्रभावित किया।

लोहिया ने शिक्षा, साहित्य और संस्कृति के सभी पक्षों को उन कोनों–अंतरों तक जाने की प्रेरणा दी जहाँ अभी उसकी पहुँच न के बराबर थी। स्वतन्त्राता के बाद के भारत के जिस चरित्रा को लोहिया ने देखा और परिभाषित किया वह तत्कालीन ही नहीं समकालीन दौर में भी साहित्य को अधिक दायित्वपूर्ण बनाता है।

❑

2009 का शीला सिद्धान्तकर सम्मान कवयित्राी अनीता वर्मा को उनके दूसरे कविता संग्रह 'रोशनी के रास्ते पर' के लिए दिया गया। उनका पहला संग्रह 'इसी जन्म में सब' 2006 में प्रकाशित हुआ था।

❑

बिलासपुर (छत्तीसगढ़) के लायंस भवन में आयोजित पं. बृजलाल द्विवेदी स्मृति अखिल भारतीय साहित्य पत्राकारिता सम्मान समारोह में मुख्य वक्ता थे कथाकार एवं संस्कृतिकर्मी हृषिकेश सुलभ। इस आयोजन में कथादेश (दिल्ली) के संपादक हरिनारायण को मुख्य अतिथि प्रख्यात कवि कथाकार एवं उपन्यासकार विनोद कुमार शुक्ल ने यह सम्मान प्रदान किया। सम्मान के तहत शाल, श्रीफल, प्रतीक चिह्न, प्रमाणपत्रा और ग्यारह हजार रुपये नगद राशि दी गई। इसके पूर्व यह सम्मान वीणा (इन्दौर) के संपादक रहे स्व. श्यामसुन्दर व्यास और दस्तावेज (गोरखपुर) के संपादक डॉ. विश्वनाथप्रसाद तिवारी को दिया जा चुका है।

इस मौके पर सम्मानित हुए संपादक हरिनारायण ने अपने सम्बोधन में कहा कि इसे छ विनम्रता ही माना जाएगा यदि मैं

कहूँ कि इस सम्मान को प्राप्त कर मुझे खुशी नहीं हो रही है बल्कि इसे मैं एक उपलब्धि की तरह देखता हूँ। मेरी जानकारी में साहित्यक पत्राकारिता के लिए तो यह अकेला सम्मान है।

कार्यक्रम के प्रारम्भ में स्वागत भाषण बेनीप्रसाद गुप्ता ने किया।

प्रस्तुति : संजय द्विवेदी, अध्यक्ष : जनसंचार विभाग, माखनलाल चतुर्वेदी पत्राकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय प्रेस काम्पलेक्स, एमपी नगर, भोपाल–20 (मध्य प्रदेश),
मो. 0989369888

❑

जीतेन्द्र वर्मा को विद्यापति पुरस्कार

पटना। वर्ष 2009 का विद्यापति साहित्य पुरस्कार युवा लेखक जीतेन्द्र कुमार वर्मा को दिया गया। पटना में आयोजित पुस्तक मेला में यह पुरस्कार 9 दिसम्बर 2009 को सम्पन्न एक समारोह में प्रसिद्ध कथाकार चित्राा मुद्गल ने प्रदान किया।

प्रतिध्वनि

पत्रा–प्रतिक्रिया

'पुस्तक–वार्ता' का नवम्बर–दिसम्बर 2009 का अंक मिला। आपके संपादन में यह पत्रिका निरन्तर आगे बढ़ती जा रही है, इस दृष्टि से समीक्षार्थ पुस्तकों के चयन से लेकर संपादकीय तक आपकी सजगता अनुकरणीय है। साहित्यकारों के प्रति आपके मन में कितना सम्मान है। 'साहित्य को राजनीति के आगे चलने वाली मशाल जैसी सच्चाई' मानकर ही आप यह इतनी बड़ी सेवा कर रहे हैं। 'दूसरा सप्तक' के कवि व्यास जी से साक्षात्कार इस अंक को महत्त्वपूर्ण बना गया। शिवजी का मतवाला–प्रसंग भी इसी स्तर की रचना है। सिनेमा सम्बन्धी समीक्षा–सामग्री से संकेत मिलता है 'पुस्तक–वार्ता' को व्यापकता और पूर्णता देने की आपकी विकलता कैसी है। 'फिराक' सन्दर्भ भी रोचक है।

रेवती रमण, मुजफ्फरपुर

'पुस्तक–वार्ता'–25 में प्रकाशित शिवरतन थानवी जी का लेख 'पोथी का सुख' हर पुस्तक प्रेमी को आनन्द देगा। प्रत्येक पुस्तक प्रेमी के पास पुस्तक सम्बन्धी संस्मरणीय किस्से जरूर होंगे, यह लेख पढ़कर मुझे सफष्दर हाशमी की एक कविता याद आ गई, जो मैंने 'वागर्थ' मार्च 2007 अंक में पढ़ी थी। तत्कालीन वागर्थ संपादक एकान्त श्रीवास्तव ने अपने संपादकीय में इसे उद्धृत किया था। मुझे यह मालूम नहीं, यह सम्पूर्ण कविता है या कविता का अंश। जो भी है मनन करने लायक है :

'किताबें करती हैं बातें बीते जमानों की
दुनिया के इन्सानों की
आज की, कल की
एक–एक पल की
खुशियों की, गमों की, फूलों की, बमों की
जीत की, हार की, प्यार के मार की
क्या तुम सुनोगे इन किताबों की बातें
किताबें कुछ कहना चाहती हैं
तुम्हारे साथ रहना चाहती हैं।'

शान्ताराम मंजुरे, मुम्बई

अँग्रेज कथाकार साथी श्री हरदर्शन सहगल से 'पुस्तक–वार्ता–24' (सितम्बर–अक्टूबर, 09) लेकर आद्योपांत पढ़ा। आपकी अद्भुत संपादन–कला पर मोहित हो गया। आपके संपादन में 'पुस्तक–वार्ता' ने हिंदी आलोचना को समृद्ध सम्पन्न किया है। आ. रामचन्द्र शुक्ल की 125वीं जयंती पर आपका संपादकीय उनके प्रति ईमानदार एवं सच्ची श्रद्धांजलि है। आप ही हैं जो 'एकमात्रा आचार्य' शुक्ल जी के सम्बन्ध में स्पष्ट मंतव्य रख सकते हैं कि 'आचार्य हिंदी क्या, सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं में भी अपने समय के सबसे बड़े प्रबुद्ध आलोचक थे।' अँग्रेजी लेखन में भी अथवा शुक्ल जी अपने समय के ही नहीं, बल्कि हमारे समय के भी बेहद सावधान समालोचक थे। शुक्ल जी के व्यक्तित्व एवं सृजन को आपने इस अन्दाज से पाठकों के सामने रखा है कि उनके मन में शुक्ल जी के प्रति श्रद्धाभाव द्विगुणित हुआ है, साथ ही आपकी कलम के प्रति अपनत्व का भाव जागृत हुआ है।

'मैं और पुस्तकें' स्तम्भ के अन्तर्गत निर्मला जैन की साफगोई ने प्रभावित किया। बड़बोले साहित्यकारों पर कटाक्ष करते उन्होंने सही कहा है कि 'उन खुशनसीबों में नहीं हूँ जो यह दावा कर सकते हैं कि उन्हें पुस्तकें जन्मघुट्टी में घोलकर पिला दी गई थी।' सच्चा सृजन ही इस तरह ईमानदारी से स्वीकारता है कि कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकों को भी समय रहते नहीं पढ़ सकीं।'

बुलाकी शर्मा, बीकानेर

पुस्तक–वार्ता को आपके संपादकीय सोच और दृष्टि ने नया रूप दिया है। मैं उसे पढ़ता हूँ– यह आज एक आवश्यक पत्रिका बन गई है।

डॉ. रामप्रसाद दाधीच, जोधपुर

अंक नवम्बर–दिसम्बर 2009 में आपने अपने संपादकीय में हिंदी लेखकों के राष्ट्रीय स्मारक बनाने की वकालत की है लेकिन हिंदी समाज में स्वभाषा गौरव–बोध का नितांत अभाव है। या यों कहे कि इस समाज में उस प्रकार की सांस्कृतिक चेतना न पहले थी न अब है, जैसी मलयालम, मराठी, बांग्ला अथवा असमिया भाषा समाज के पास है। इसलिए हिंदी के लेखक–कवि अथवा हिंदी कथ्रमयों के नाम पर मार्ग, नगर अथवा भवनों के नाम नहीं के बराबर हैं। 'पुस्तकें और मैं' स्तम्भ के अन्तर्गत शिवकुमार मिश्र ने स्मृतियों के वातायन के अतीत में प्रविष्ट होकर पाठकों के लिए बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध कराई है। अन्य समीक्षाएँ भी नीर–क्षीर विवेक की साक्षी हैं।

वीरेन्द्र परमार, फरीदाबाद

अंक 20 मुझे फरवरी में मिला। इस अंक में काशीनाथ सिंह के उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' की गीता शर्मा द्वारा की गई समीक्षा पढ़ी। यह उपन्यास सर्वप्रथम तद्भव–16 में प्रकाशित हुआ था। उनकी चमत्कारपूर्ण भाषा के अलावा और किसी बात का प्रभाव मुझ पर नहीं पड़ा था। इसका कथ्य फिल्मी ढंग से सजाया गया है जो कुछ पाठकों पर तात्कालिक प्रभाव डालेगा। लेकिन दूरगामी असर नहीं डाल सकता। उपन्यास विद्या में आज भी हिंदी वालों को 75 वर्ष पूर्व लिखे गए 'गोदान' की ओर देखना पड़ रहा है। गीता शर्मा ने अपनी समीक्षा के प्रथम तीन परिच्छेद अन्य बातों पर ही खर्च डाला है और तब कृति की ओर आई हैं।

शान्ताराम मंजुरे, मुम्बई